



खंडित पूजा

विष्णु प्रभाकर

सत्साहित्य-प्रकाशन

खंडित पूजा

--मौलिक कहानियों का संग्रह--

विष्णु प्रभाकर

१९६०

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९६०
मूल्य
तीन रुपये

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली-६

मामाजी

श्री प्यारेलाल गुप्त

को

जो मेरे प्रारम्भिक जीवन

की

प्रेरणा रहे हैं

प्रकाशकीय

प्रस्तुत प्रस्तुक के लेखक का हिन्दी के साहित्यकारों में अपना स्थान है। साहित्य के विविध क्षेत्रों—उपन्यास, नाटक, रेखाचित्र, रूपक, एकांकी आदि—में इनकी देन उल्लेखनीय है। इनकी भाषा-शैली प्रांजल है, पर उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनका दृष्टिकोण अत्यन्त मानवीय है। इस विशेषता के कारण उनकी रचनाएं न केवल प्राणवान बनी हैं, अपितु सबके लिए सुपाठ्य भी। उन्हें जो भी पढ़ता है, उसीको रस आता है। उनकी सामयिक कृतियों में भी उनका वही दृष्टिकोण परिलक्षित होता है।

इस पुस्तक में लेखक की कहानियां संग्रहीत की गई हैं। सभी कहानियां बड़ी ही रोचक एवं भावपूर्ण हैं। उनमें लम्बे-चौड़े कथानक नहीं हैं, पर परिस्थितियों का विकास इस ढंग से किया गया है कि पढ़ते-पढ़ते पाठकों का हृदय द्रवित हो उठता है।

आशा है, ये कहानियां सभी क्षेत्रों में चाव से पड़ी जायंगी।

—मंत्री

दो शब्द

'खण्डित पूजा' मेरा आठवां कहानी-संग्रह है। अनुभव हुआ है कि कहानी संग्रह की भूमिका लेखक और पाठक के बीच में व्यवधान ही बनती है। इसलिए 'खण्डित पूजा' का रस क्यों खण्डित किया जाय! इतना कहना काफी होगा कि ये कहानियां १९३५ और १९५९ के बीच लिखी गई हैं। पुरानी कहानियों को पढ़ा तो कई को फिर से लिखने को मन हुआ, पर फिर तो वे पुरानापन न खो देतीं! यह अच्छा नहीं होता, इसलिए इधर-उधर से दो-चार शब्द ठीक करके उन्हें वैसा ही जाने दिया। दो-तीन कहानियों के नाम अवश्य बदले हैं।

कुछ कहानियां दूसरी भाषाओं में अनूदित हुई हैं या आकाशवाणी से किसी रूप में प्रसारित हुई हैं, १९६० में इन बातों का कोई महत्व नहीं है।

इन कहानियों के होने में जो प्रेरक हैं, उन्हें प्रणाम करता हूं।

८१८ कुण्डेवालान
अजमेरी गेट, दिल्ली–६

—विष्णु प्रभाकर

कहानी-सूची

खंडित पूजा

खंडित पूजा

देवेन ने देखा—संध्या गहरा आई है। सड़क के उस पार बंगलों से बिजली का प्रकाश छन-छनकर बाहर लान की हरी दूब पर फैला पड़ा है। सड़क पर अपार भीड़ है। मोटर लारियां, कारें, तांगे और साइकलें हार्न और घंटी से अनवरत कर्णकटु शब्द पैदा कर रहे हैं। पीछे के विशाल मैदान में, जहां अभी-अभी लक्ष-लक्ष नर-नारियों ने भारत की आजादी की प्रतिज्ञा दोहराई है, पानी बरसा चुके छूछे बादलों की तरह छोटी-छोटी भीड़ बिखरी पड़ी है। कोई चाट खा रहा है, कोई जानेवाले जन-समूह को देख रहा है। उनके मन में घर पहुंचने की उतावली है। इन्हींके बीच में रास्ता बनाते-बनाते देवेन अपने मित्र नीलम के साथ सहसा गम्भीर विवाद में उलझ गया है। नीलम जीवन की कठोरता में विश्वास करता है। उसके लिए नियम, जीवन-मरण सबसे ऊपर हैं और देवेन जीवन को जैसे वह है—उसी रूप से ग्रहण करता है। नियम-बंधन उसके लिए बहती नदी की धारा को रोकने के समान है। मानता है कि धारा को रोकना जीवन की हत्या करने जैसा है। इसीलिए नीलम की तीव्रता उसके लिए अस्वाभाविक है, इसीलिए नीलम के तीव्र होते ही वह मुस्करा उठता है। आज भी मुस्करा उठा। चाहा कुछ कहे कि नीलम फिर बोल उठा "उधर देखते हो?"

उधर जो कुछ था वह देवेन ने देखा, बोला "देख रहा हूं।"

"वे आजादी की प्रतिज्ञा लेने आई थीं।"

"बेशक"

"जानते हो उनके लिए आजादी क्या है?"

"आजादी, आजादी है और क्या हो सकती है ?"

नीलम विद्रूप से हँसा, "आजादी, आजादी है ? आजादी का अर्थ समझनेवाले इस प्रकार नहीं रहा करते। देखते हो उनके होठों की लाली, मानो रक्त लपेट लिया हो।"

"वीभत्स," देवेन घृणा से भर आया, "छी। नीलम ! तुम इतने कृपण हो यह आज जाना है। देखता हूं ये लड़कियां सुन्दर हैं पर... ।"

"सुन्दर," नीलम ने क्रुद्ध होकर कहा, "इस प्रदर्शन को तुम सुन्दरता क़हते हो ! देखते नहीं झिलमिल करती हुई रेशमी साड़ी को, जो ओवर कोट में से होकर नदी की तरंगों की तरह धरती पर बिखरी पड़ती है। उनके गोलाकार कर्णफूल, उनकी मुक्त लम्बी बेणियां, उनकी चंचल आंखें, ये सब क्या आजादी के सैनिकों को शोभा देती हैं ?"

देवेन ने उसी तरह कहा, "आजादी के सैनिकों को क्या शोभा देता है यह मैं नहीं जानता। परन्तु इतना जरूर जानता हूं, उनको यह सब शोभा दे रहा है। और उसका प्रमाण है तुम्हारा मोहक वर्णन। उनको देखकर तुमने अपने मानस-पलट पर जो चित्र अंकित किया है वह एकदम यथार्थ न होकर भी बुरा नहीं है।"

अप्रतिभ नीलम झुंझला उठा, "देवेन तुम तो..."

कि देवेन ने पुकारा, "रजनी, वीणा ! ठहरो हम भी चलते हैं।"

सहसा वे दोनों युवतियां ठिठक गईं, फिर देवेन को देखा तो मुस्करा पड़ीं। रजनी बोली, "ओ देवेन भइया हैं ! आपका आजादी से कब से प्रेम हुआ, कवि महाशय !"

"जबसे आपको।"

"जी...!" वीणा कहते-कहते रुक गई।

"कहिये, कहिये। ये अपने मित्र नीलरतन बाबू हैं। प्यार से हम नीलम कहते हैं। नाम जितना कोमल है, आप उतने ही कठोर हैं।"

रजनी ने धीरे-से कहा, "ठीक तो है। अमूल्य होकर भी नीलम आखिर पत्थर है।"

देवेन बड़े जोर-से हँस पड़ा, "अरे नहीं रजनी ! मेरा यह मतलब नहीं था। हमारे नीलमबाबू आर्तजनों के प्रति बड़े सदय हैं। केशवाश्रम आप ही का है।"

वीणा और रजनी सहसा चौंक पड़ीं, "केशवाश्रम के नीलरतन चौधरी आप ही हैं।" फिर दोनों ने हाथ जोड़कर नीलम को प्रणाम किया। रजनी बोली, "अनजाने ही जो कुछ हमने कहा है उसके लिए क्षमा कर दीजिये ?"

नीलम बोला, "जो कुछ आपने कहा, उसमें असत्य कुछ नहीं है। इसलिए क्षमा का प्रश्न नहीं उठता और अगर उठता है तो वह मेरे लिए है। आपको लक्ष करके मैंने अभी कहा था जो इस प्रकार सौंदर्य का प्रदर्शन करते हैं उन्हें आजादी की प्रतिज्ञा लेना शोभा नहीं देता।"

दोनों ठगी-सी देखती रह गईं। देवेन का मुख राख हो आया। वह परिस्थिति को संभालने के लिए कुछ कहे कि रजनी बोल उठी, "नीलम-बाबू ! सोचने को सबके पास अपनी-अपनी बुद्धि है पर इस बात को लेकर कोई भी दो व्यक्ति कभी लड़ते नहीं देखे गये। हम भी क्यों लड़ें? इसलिए हमारे प्रदर्शन को देखकर आपके मन में जो विचार उठे विश्वास रखिये उनके लिए हमें कोई चिन्ता नहीं है।"

वीणा ने कहा, "सच जीजी। जिसका मन जैसा होता है, उसके विचार भी वैसे ही होते हैं।"

और फिर नीलम की ओर मुंह करके बोली, "भइया अक्सर आपकी चर्चा किया करते हैं, विशेषकर आपके खरेपन की। मन की बात इतनी स्पष्टता से कह देना खरेपन के कारण ही सम्भव है पर एक बात मैं पूछती हूं कि जिस प्रदर्शन की आप निन्दा करते हैं, आजादी के उपासक उसीकी पूजा के लिए कुछ क्षण पहले यहां एक मन होकर बैठे थे।"

नीलम ने इन शब्दों की चोट को महसूस किया क्योंकि कई क्षण तक वह चुपचाप चलता रहा फिर बोला, "आपकी बुद्धि की प्रशंसा कर सकता हूं, वीणादेवी..."

वीणा ने कहा, " मैं देवी नहीं हूं। आप केवल 'वीणा' कह सकते हैं।"

नीलम बोला, "आपको क्या कहकर सम्बोधन करना चाहिए, यह मेरे जानने की बात है। और फिर आपको मात्र 'वीणा' कह सकूं मुझमें इतना अपनापन अभी पैदा नहीं हुआ है, पत्थर जो ठहरा। वीणादेवी, मैं आपकी बात का जवाब दे दूं। कब कोई अवस्था प्रदर्शन बन जाती है इस बारे में इस दुनिया में सदा मतभेद रहा है, रहेगा भी। परन्तु यह मानकर भी कि प्रदर्शन बुरा है, कुछ बातों का प्रदर्शन जीने की प्रेरणा देता है। उसे अपेक्षाकृत कम पाप समझकर ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु जिस प्रदर्शन में विष-ही-विष है वह तो मौत का ही कारण हो सकता है। मौत प्यारी है, परन्तु जीवन के बाद। जिसने अभी जीवन का दर्शन भी नहीं किया उसे यदि मृत्यु की गोद में धकेला जाय तो वह निरा अनाचार होगा। हमारे इस अभागे देश को आज जीवन के संदेश की जरूरत है, मौत की नहीं। हां, यदि कोई इस अधिकार के लिए मृत्यु का वरण करता है तो उसका साहस स्पर्धा का विषय है।"

यह बात सुनकर वीणा कुछ खिसिया गई। बोली, "आपकी बात सुनकर तो ऐसा जी करता है, सबकुछ छोड़कर संन्यासिनी हो जाऊं।"

रजनी ने कहा, "जिसका जी इतनी जल्दी पलट सकता है, वह सदा सलेट पर लकीर खींचेगा, पत्थर पर नहीं। वीणा, मेरे मन में संन्यासी बनने की बिल्कुल चाह नहीं है। समय पड़ने पर मेरी रेशमी साड़ी मेरे मार्ग का बन्धन बनेगी, इतनी कायर मैं नहीं हूं।"

और इतना कहकर रजनी ने गौर से एक दृष्टि नीलम पर डाली, लेकिन बात आगे बढ़े कि वे बस-स्टैंड के पास पहुंच गये। नीलम की बस तैयार थी। उसने देवेन से कहा, "मैं अब चलता हूं।" फिर हाथ जोड़कर सबको नमस्कार किया। बोला, "आज अचानक आप लोगों से मिलकर मुझे बड़ी खुशी हुई है। आश्रम में आइयेगा तो आगे बातें होंगी।"

वीणा ने कहा, "बुलायेंगे तो जरूर आयेंगे पर आश्रम में क्या बातें ही की जाती हैं।"

नीलम ने उत्तर में जो कुछ कहा, वह सुन न पड़ा। बस चल पड़ी थी।

सब लोग हाथ जोड़े खड़े रह गये, फिर वीणा बोली, "नीलमबाबू प्यूरीटैनिक टाइप के व्यक्ति जान पड़ते हैं।"

देवेन ने कहा, "जी, शुद्ध गांधीवादी हैं, परन्तु कर्मठ हैं। अकेले जंगल में रहते हैं।"

रजनी बोली, "सुना है, जिनकी बुद्धि कुंठित होती हैं उनके हाथ बहुत काम करते हैं।"

जीजी की इस बात से वीणा प्रसन्न नहीं हुई, बोली, "जीजी! बिना देखे राय बनाना ठीक नहीं होता। परसों हम लोग उनके आश्रम में चलेंगे।"

तीसरे दिन जैसे ही देवेन ने आकर पुकारा, रजनी और वीणा दोनों अपने-अपने कमरे से निकल आईं। दोनों बिलकुल तैयार थीं परन्तु आश्चर्य एक-दूसरे को देखकर दोनों चौंक पड़ीं। वीणा ने देखा—जीजी ने शुद्ध खद्दर की साड़ी पहनी है। पैरों में चप्पल हैं और कानों में सादे टौप्स। बिलकुल देश-सेविका-सी लगती हैं। इसके विपरीत वीणा ने अपनी सबसे सुन्दर रेशमी साड़ी पहनी थी, ऊपर से ओवर कोट डाला था। उसके मत्स्याकार कर्णफूल कोट के कालर को छूकर हिल-हिल उठते थे। उसके मस्तक पर लगी त्रिपुण्डाकार बिन्दी बार-बार चमक उठती थी। वीणा ने सोचा, मैंने कितनी गलती की, आश्रम में क्या ऐसे जाया जाता है? जीजी ठीक है पर...उसे जीजी की परसों की बात याद आ गई। वह खीज उठी, यह जीजी मुझे बार-बार पराजित कर देती है।

उधर रजनी ने मन-ही-मन कहा—शाबास वीणा! खूब पराजित किया।

दोनों के मन म्लान हो आये, परन्तु रास्ते के सुहावने दृश्यों ने उन्हें फिर प्रफुल्लित कर दिया। बस से उतरकर उन्होंने देखा—दूर-दूर तक खेत फैले हैं और क्षितिज के किनारों पर धूलभरे पहाड़ नजर आते हैं। कहीं-कहीं पुरातन काल के वैभव की याद के लिए काले खण्डहर धूप में चमक उठे हैं और कृषक-बालिकाएं हरे-भरे लहलहाते हुए खेतों के बीच किसी कुएं से पानी की गगरिया सिर पर धरे गांव को लौट रही हैं। बीच-बीच

में वे किसी गीत की कड़ी गुनगुना उठती हैं...।

कठिनता से वे दो फर्लांग चले होंगे कि खेतों के उस पार केशवाश्रम के वृक्ष दिखाई देने लगे। मुख्य द्वार के साथ दो कमरे थे। उन्हींके साथ-साथ एक रास्ता निकाला गया है। उसी रास्ते के दोनों ओर बहुत-से छोटे-छोटे घर बने हैं। कच्चे होकर भी वे सुन्दर हैं। उनके पुश्ते ऊंचे हैं। उन-पर बैठे बच्चे धूप में खेल रहे हैं। कुएं पर रहट चल रहा है। बैलों के गले में बंधी घंटी टन-टनकर बज उठती है और चरस को खींचते समय किसान की ऊंची गर्वीली आवाज बड़ी प्यारी लगती है ...।

सहसा बच्चों ने इन नवागुन्तकों को देखा। अचरज से ठिठक गये। जो सयाने थे वे हाथ जोड़कर बोले, "नमस्ते।" फिर तो सभीने एक स्वर में 'नमस्ते' 'नमस्ते' पुकारना शुरू कर दिया। कोलाहल सुनकर कहीं से नीलम और उसके साथी वहां आ गये। उन्हें देखकर नीलम मुस्कराया, "ओ, आप!"

रजनी हँसी, "आश्चर्य होता है, नीलमबाबू। बात कुछ ऐसी ही है।"

नीलम भी हँसा, "जी नहीं। इसमें अचरज की क्या बात है और वास्तव में अचरज की बात तो कुछ होती ही नहीं, लेकिन हां, आप लोग आये यह बहुत सुन्दर है। स्वागत-सत्कार तो आप जानती हैं...।"

"नहीं, नहीं", रजनी बोली, "स्वागत-सत्कार की चिंता आप न कीजिये। प्रकृति ने आपके अनजाने ही आपको उस भार से मुक्त कर दिया है। सच मुझे तो आपसे ईर्ष्या होती है। कैसी मन-भावन जगह है, क्यों न वीणा?"

वीणा बोली, "सच जीजी, उन बच्चों को देखो न? कैसे प्यारे लगते हैं?" और नीलम की ओर मुड़कर कहा, "पास के गांव के बच्चे हैं शायद?"

"जी हां। जो गांव पास लगते हैं उनमें बसनेवाले हरिजनों के बच्चे यहां आते हैं।"

"मैं इनसे बातें कर सकती हूं?"

"हां, हां।"

बस, वीणा उसी क्षण बच्चों में जा मिली। रजनी और देवेन नीलम के साथ घूम-घूमकर आश्रम देखने लगे। देखकर लौट आये पर वीणा बच्चों को लेकर उलझी हुई है। कोट एक तरफ पड़ा है। साड़ी अस्त-व्यस्त हो रही है। उसी तरह कच्चे फर्श पर बैठी धीरे-धीरे बच्चों को कुछ सुना रही है। बच्चे कभी किलकारी मारकर हँसते हैं तो कभी गंभीर हो जाते हैं...।

"अच्छा," वीणा बोली, "मैं तुम्हें एक खेल बताती हूं। एक नया खेल। देखो मैं कहूंगी —देखो नीलम दादा आये। फिर तुम लोगों में से पहला लड़का कहेगा—नीलम दादा बम्बई से आये। दूसरा फिर दूसरे शहर का नाम लेगा, तीसरा तीसरे का। इसी प्रकार सबको एक-एक शहर का नाम लेना होगा। जो न ले सकेगा वह लडका हार जायगा।"

लड़के बड़े प्रसन्न हुए और खेल शुरू हो गया। बहुत देर तक चलता रहा। वे लोग तन्मय-विमुग्ध खड़े-खड़े देखते रहे। रजनी बोली, "ऐसा लगता है जैसे वीणा सदा से ही इनमें रही है।"

देवेन ने कहा, "देखो न, साड़ी का क्या भुस बना डाला है। इसके भाग्य पर मुझे दुःख होता है।"

नीलम सहसा बोल उठा, "और मुझे गर्व। अपनी-अपनी समझ है, कवि महाशय।"

देवेन ने कहा, "सो तो है, दादा। पर क्या बता सकोगे कि तुम्हारा गर्व साड़ी के प्रति है या साड़ी के स्वामी के प्रति।"

नीलम न जाने क्यों झेंप गया और शीघ्रता से बोला, "ओ! खाने का समय हो गया। रामू, घंटी बजा दो और चलो देवेन। चलो बहन! भोजन-घर की व्यवस्था देखें।"

रजनी ने कहा, "भोजनघर की चिन्ता आज आप मुझपर छोड़ दीजिये। जानती हूं, आप स्वयं पाकी हैं पर आज आपकी छुट्टी है। आदमी भी तो बहुत हैं।"

उधर रामू ने घंटी बजा दी। बच्चे चौंक उठे, "छुट्टी हो गई। इत्ती

जल्दी ! इत्ती जल्दी क्यों ?"

वीणा को भी होश आया, देखा-सचमुच धूप गहरी हो गई है। वेश-भूषा एकदम अस्त-व्यस्त, साड़ी जगह-जगह से मैली, अपने ऊपर लज्जा-सी हो आई, बोली, "हां ! अब तुम जाओ। एक दिन फिर आकर बहुत-सी कहानियां सुनाऊंगी।"

"सच," वे बोले।

"हां, हां, सच।"

बच्चे चले गये। नीलम ने मुस्कराकर कहा, "वीणादेवी ! आप बच्चों से इतना प्रेम करती हैं, बड़ी खुशी हुई। देखिये तो आपने अपनी साड़ी का क्या भुस बना डाला है ?"

वीणा साड़ी झाड़ती-झाड़ती बोली, "मैं स्वयं अभी बच्ची हूं, इसलिए वे मुझे प्यारे लगते हैं। नई-नई साड़ियां, नया-नया फैशन, नई-नई बातें सभी मुझे प्यारी लगती हैं। और नीलमबाबू, बातें तो आप भी नई-नई करते हैं परन्तु...।"

"परन्तु क्या... ?"

"परन्तु यही कि वे बूढ़ोंवाली होती हैं। मानो जीवन आपके लिए कोई ठोस पदार्थ है, न स्पन्दन, न तड़प। मात्र मशीन। पर मेरी दृष्टि में यह जीवन नहीं है, मौत है।"

"मौत !"

"जी ! मैं तो उसे मौत ही समझती हूं। जीवन और मौत इन दो के अतिरिक्त और है भी क्या, जो मैं समझूं।"

नीलम हँस पड़ा, "है क्यों नहीं, जीवन और मृत्यु के बीच हम तुम हैं, यह अनन्त संसार है।"

वीणा चौंक पड़ी और नीलम कांप आया। तर्क की प्रबल भावना कैसा अनर्थ कर सकती है परन्तु ठीक समय पर रजनी ने उन दोनों की रक्षा की। पुकारा, "वीणा ! देवेन भइया ! नीलम दादा ! कहां हो तुम लोग ? भोजन तैयार है।"

दोनों जैसे मुक्त हुए। छत की मुंडेर पर बैठे हुए देवेन ने उनके मुख पर आते हुए प्रकाश को स्पष्ट देखा। देखकर मुस्कराया परन्तु बिना कुछ कहे वह रसोईघर में जा पहुंचा। सब लोग आ गये थे—वीणा, नीलम और उसके सभी साथी। सबने मिलकर एक साथ भोजन किया। उन क्षणों में उल्लास की मुक्त धारा सबके अन्तर को भिगोती रही। नीलम के एक साथी, जो गांव के मिडिल पास हरिजन थे, बड़ी नम्रता से बोले, "दादा! आज आप लोगों के साथ भोजन करके जीवन धन्य हो गया है।"

देवेन ने कहा, "सच! मन करता है रोज-राज इन लोगों को लेकर यहां भोजन करने आया करूं।"

दूसरे साथी बोले, "हम लोगों के ऐसे भाग्य कहां जो आप लोग रोज आवें।"

तीसरे ने कहा, "आनेवाले रोज भी आते हैं, पर आप तो ऐसे आये जैसे जन्म-जन्म के साथी हों। और जीजी! आपने तो सचमुच साक्षात अन्न-पूर्णा मइया की तरह हमको भोजन कराया है।"

वीणा एकदम बोल उठी, "आप लोग इतनी जल्दी असंयत हो उठे हैं, बड़ी कच्ची धरती है इस आश्रम की।"

साथी लोगों ने इसका अर्थ नहीं समझा पर जिसको लक्ष करके ये शब्द कहे गये थे वह समझकर भी नासमझ बना रहा। उसने उस दिन फिर कोई भी शब्द न बोलने का प्रण कर लिया था। वह समझ रहा था जो अधिक बोलते हैं वे धोखा खाते हैं। आज अभी-अभी उसने भी खाया है। जो वाक्य उसके मुख से निकल गये हैं उनपर स्वयं उसे खेद हो रहा है। आखिर यह हुआ क्या? मन में ऐसा कुछ भी है, जिसे मैं नहीं जानता? जब मैं अपने-आपको ही नहीं जान पाता तो दूसरों की कमजोरियों पर दिल्लगी करने का मुझे क्या अधिकार है?

इसीलिए उन लोगों के चले जाने के बाद उसने अपनेको पूरी तरह काम में फंसाने की चेष्टा की परन्तु प्रकृति का नियम बड़ा अद्भुत है। नीलरतन बाबू ने समझा था वह घटना सलेट पर लिखी गई इबारत है,

पानी से धोने पर साफ हो जायगी परन्तु अचरज । धोने के बाद देखा— वह तो सलेट के पत्थर पर गहरी अंकित हो गई है । टूट जाने पर भी मिटना असम्भव है। फिर उनके साथी और बच्चे हैं, जो सदा रेखा को गहरी करने में योग दिया करते हैं। बच्चे रोज पूछते हैं, "वे कब आयेंगी ?"

जानबूझकर वह कहते, "कौन ?"

"वे जो कहानी कहती थीं।"

"आयेंगी।"

"कब ?"

"एक दिन !"

और सचमुच एक दिन सवेरे-ही-सवेरे वीणा चुपचाप आश्रम आ पहुंची। वहीं नीलम खड़ा था, चौंक पड़ा, "आप !"

"जी।"

"अकेले !"

"जी।"

"क्यों ?"

"क्यों..." कि दोनों चौंक पड़े। मुस्कराकर वीणा बोली, "जीजी अपने घर चली गई। अकेले जी नहीं लगा। फिर बच्चों में खेलने को मन करता था सो चली आई।"

नीलम ने पूछा, "घरवाले जानते हैं ?"

"जानना क्या जरूरी है ?"

"हां।"

"और न जाने तो...?"

"तो आपका यहां आना मुझपर अत्याचार होगा जिसे...।"

वाक्य पूरा किया वीणा ने, "जिसे आप सहना गवारा न करेंगे, यही न ? आप डरें नहीं। मेरा दायित्व आपपर लादेंगे इतने मूर्ख मेरे घरवाले नहीं हैं। जिन लोगों ने मुझे आजादी दी है, आजादी के लिए साधन दिये हैं, वे यहां आने की बात सुनकर डरेंगे नहीं ? आपपर उन्हें विश्वास है।"

इस अन्तिम वाक्य ने नीलम के मर्म को छेद दिया। बाण-विद्ध मृग की भांति तड़प उठा। एक बार मन में आया, कहे—अभागी लड़की मेरे ऊपर विश्वास-अविश्वास करनेवाले तुम लोग कौन होते हो? परन्तु जैसे ही शब्द कण्ठ में आये, अग्नि के धूम की भांति मस्तिष्क में एक दूसरा विचार भी आ गया और वह शान्त मन बोला, "वीणादेवी! मैं क्षमा चाहता हूं। मेरा आशय यह कदापि नहीं था। अचानक आपको अकेला देखकर..."

इस बार भी वाक्य वीणा ने पूरा किया। हँसकर बोली, "मुझेअकेले देखकर आपको डर लगा, कहीं मैं भाग आई हूं।"

नीलम हँस पड़ा।

वीणा उसी तरह बोली, "सच जानिये मैं भागकर आई हूं।"

नीलम भी उसी तरह बोला, "सो तो देख रहा हूं। आने की बात अचानक ही सूझी है। इसीलिए न रेशमी साड़ी है, न त्रिपुण्डाकार बिन्दी।"

"ओ" वीणा व्यंग्य से हँसी, "तो आप इतने गहरे हैं। तभी जीवन और मृत्यु के बीच के रहस्य को जानते हैं।"

आश्चर्य! तिलमिलाने के स्थान पर नीलम हँस पड़ा और फिर वीणा उस दिन वहीं रही। उसके लौट जाने पर नीलम ने एक घोर निश्चय कर डाला—मैं वीणा को पत्र लिखूंगा, भविष्य में वह इधर न आये। सौंदर्य-प्रदर्शन के अतिरिक्त आजकल की युवतियां युवकों का मन मोहने की और भी बहुत-सी कलाएं जानती हैं। हाय रे भाग्य! इन अभागे युवकों का इस मोह-बन्धन से कहीं भी छुटकारा नहीं है।

लेकिन जबतक वह ऐसी चिट्ठी लिखे तबतक एक बार फिर वीणा आश्रम में आ पहुंची। नीलम ने देखा—इस बार उसने शुभ्र-स्वच्छ खद्दर की साड़ी पहनी है। हाथों मैं कांच की दो-दो चूड़ियों को छोड़कर शरीर पर और कोई आभूषण नहीं है। यहांतक कि कानों में कर्णफूलों के स्थान पर तीलियां डाली हैं। देखकर वह एक साथ भय, श्रद्धा और अचरज से भर उठा। वीणा स्वयं सदा की भांति निर्द्वन्द्व नहीं थी। गहरी गम्भीरता

उसके चंचल नेत्रों से बही पड़ती थी। अवसर पाकर उसने नीलमबाबू से कहा, "आज मैं एक विशेष काम से आई हूं।"

नीलम अनमना-सा बोला, "जी कहिये।"

आगे बिना किसी भूमिका के वीणा ने कहा, "देश-सेवा के लिए मैं दीक्षा लेना चाहती हूं।"

"तो," अचकचाकर नीलम ने पूछा।

"आप दे सकेंगे!"

"मैं...!"

"जी!"

क्षण-भर नीलम हतबुद्धि-सा वीणा को देखता रहा फिर सबकुछ समझकर उसने स्पष्ट शब्दों में कहा, "वीणादेवी। मुझे दुःख है, मैं आपकी सहायता नहीं कर सकूंगा। मैंने आजन्म अविवाहित रहने का प्रण कर रखा है।"

सुनकर वीणा कांप उठी। उसकी सहज बुद्धि कुंठित हो गई। जिस तथ्य को यत्न करके उसने इतने आवरणों के नीचे छिपाया था वह सहसा जेबुन्निसा के बदन की तरह चमक उठा, तो वह हतबुद्धि-सी देखती ही रह गई। अथाह सागर के नीचे जो भाव छिपा था वह शब्द के एक झटके से तल पर आ जायगा, यह उसने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। लेकिन अचरज इतना होने पर भी एक गहरे विजय-गर्व से उसका मन उच्छ्वसित हो आया। मुस्कराकर बोली, "आपकी स्पष्टवादिता और स्वीकारोक्ति से मैं बहुत खुश हूं। विश्वास रखिये, आस्तिक हूं।...भगवान् से प्रार्थना करूंगी कि वह आपकी सहायता करें, लेकिन साथ ही चाहूंगी आप भी अपने इष्टदेव से मेरे लिए मंगलकामना करते रहें।"

नीलम ने इतना ही कहा, "करूंगा वीणादेवी।"

"तो विश्वास रखिये हम दोनों का कल्याण होगा।"

और इतना कहकर वीणा आश्रम से चली गई। नीलम देर तक इस लड़की की बात सोचता जहां-का-तहां बैठा रहा। विचारों का एक अथाह-सागर उसके भीतर उमड़ पड़ा। उसे तैरकर पार करने में असमर्थ उसका

मन हड़बड़ा उठा, लगा जैसे पानी मुंह, नाक, आंख, कान सभी छिद्रों से होकर उसे तल में बैठाने को व्यग्र हो उठा है। उसने तब अवरुद्ध कण्ठ से भगवान के दरबार में गुहार की—प्रभो! अपराध मेरा ही अधिक है। मैं नारी से जितना दूर भागना चाहता हूं उतनी ही उसके प्रति मेरी आसक्ति बढ़ती है। मैं वीणा को भी प्रेयसी से भिन्न रूप में नहीं देख सका। मुझे शक्ति दो, प्रभु, मैं प्रायश्चित्त करूंगा।

और फिर उसने अपनेको देश के हित अर्पण कर दिया। तबसे उसने दिन देखा न रात देखी। रामधुन की तरह वह देशधुन का राग अलापने लगा। मात्र वाणी से नहीं, कर्म से भी उसने अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने की चेष्टा की। यहां, वहां, इधर-उधर चारों तरफ सबको नीलम-ही-नीलम दिखाई देने लगी। लोग प्रशंसा से भर उठे, "नीलरतन जैसा माई का लाल और कौन होगा?"

यह प्रशंसा उस दिन तो सब सीमाएं पार कर गई जिस दिन विद्यार्थी-संघ का जलूस निकला। आश्रमवासियों को लेकर वह शहर आया था। सहसा उसने सुना, पुलिस ने जलूस रोक दिया है। वह तुरन्त घटना-स्थल पर पहुंचा। देखा—अपार जन-समूह है। स्त्री-पुरुष, युवा-वृद्ध-बालक सभी उत्साह-उमंग से भरे धरती पर बिखरे पड़े हैं। पूर्णतया शान्त हैं पर आगे बढ़ने को आतुर हैं और पुलिस ने कहा, "पीछे हटना होगा।" उन्होंने कहा, "हम पीछे नहीं हटेंगे।"

पुलिस अधिकारी बोले, "आप इस रास्ते से नहीं जा सकते।"

"हम जायंगे।"

"तो मुझे गोली चलानी पड़ेगी।"

अनेक कण्ठ एक स्वर में बोल उठे, "मृत्यु एक बार आती है, उससे हम नहीं डरते।"

सुनकर नीलम गद्गद हो उठा। जीवन और मृत्यु का रहस्य ये लोग जानते हैं, पर वह मानता था यह मरने का समय नहीं है। इसीलिए उसने उन्हें समझाना चाहा। तभी सहसा एक कोने में कोलाहल मचने

लगा, किसीने पत्थर फेंके, पुलिस आगे बढ़ी। क्षण-भर में शांत, निर्द्वंद्व भीड़ उत्तेजित होकर चारों ओर भाग निकली। पुलिस ने फायर कर दिया। नीलम हतबुद्धि क्रुद्ध उधर ही दौड़ा जिधर गोली चली थी। वह चिल्लाया, "बन्द कर दो, फायर बन्द कर दो।"

लेकिन फायर हो रहे थे। भीड़ भाग रही थी। जलूस के मुख्य नेता दृढ़ स्थिर सड़क पर बैठे थे। वह चिल्ला रहा था, "बन्द कर दो, फायर बन्द कर दो।"

तभी किसीने दूर से पुकारा, "नीलमबाबू! पीछे हटिये! नीलम-बाबू···।"

वीणा थी। जलूस के मध्य भाग से उसने चलते हुए नीलम को देख लिया था पर नीलम अब भी चल रहा था, मुख तप्त सूर्य की तरह लाल था, आंखें आग की तरह प्रज्ज्वलित थीं। सांस झंझा की तरह क्रुद्ध थी और गति तूफान की तरह प्रबल। वह चिल्ला रहा था, "बन्द कर दो, फायर बन्द कर दो।" वीणा पास आ गई, उसने नीलम को पकड़कर खींच लिया, "नीलम! क्या करते हो पीछे हटो...।"

नीलम नहीं हटा, फायर हुआ—और आगे भागने में असमर्थ वह गिर पड़ा। रक्त की एक रेखा मुख को विजय लालिमा से अभिषिक्त करती हुई धरती माता की छाती पर फैल गई। वीणा पागल की तरह घुटने टेक दोनों हाथों से उठाती आर्त्त स्वर में बोली, "नीलम। नीलम यह क्या किया तुमने?"

नीलम की आंखें खुलीं। एक दिव्य मुस्कराहट उसके मुख पर फैल गई। अति धीमे-से बोला, "वीणा...।"

और फिर उसने निर्विरोध-निर्द्वन्द अपने क्षत-विक्षत शरीर को वीणा के हाथों में सौंप दिया। वीणा आरक्त नयन, अवरुद्ध-कण्ठ अपनी साड़ी से उसके मुख का रक्त पोंछती-पोंछती इतना ही बोली, "कुछ भी हो नीलम, तुम्हारी यह पूजा भगवान स्वीकार नहीं करेंगे। यह खंडित पूजा है।"

●

नारी चरित्रम्...

उस दिन स्थानीय क्लब में दो युवा प्राध्यापक, दो-तीन लेखक और पत्रकार मिले तो तुरन्त नारियों की चर्चा करने लगे। उनमें से कई लम्बी-लम्बी विदेश यात्राएं कर चुके थे और रस ले-लेकर अपने-अपने अनुभव सुना रहे थे। उनकी दृष्टि में नारी कभी पुरुष के बराबर नहीं हो सकती थी। आजकल सेवा करने के प्रयत्न में वह बुद्धिमती तो क्या होती, नारी भी नहीं रही थी।

उनमें जो लेखक थे, पूछ बैठे, "तो क्या रह गई है।"

"केवल शरीर।"

"बेशक आधुनिक-नारी केवल शरीर है जो फैशन के बल पर रूप और यौवन का आकर्षण बनाये रखने में जीवन खपा देती है।"

दूसरे प्राध्यापक बोले, "यदि वह ऐसा न करे तो पुरुष की आंखों में धूल नहीं झोंक सकती।"

लेखक ने मुस्कराकर कहा, "दोस्तो! मैं आपकी राय से सहमत हूं, पुरुष को चकमा देने में वह असाधारण रूप से दक्ष है। कभी-कभी तो वह पुरुष को इस प्रकार मूर्ख बनाती है और स्वयं ऐसी सुगमता से बच निकलती है कि हमें काठ मार जाता है।"

इस मुहावरे के प्रयोग पर प्राध्यापक कुछ चौंके। जो सबसे अधिक नारियों के सम्पर्क में आने की डींग मार रहे थे, वे बोले, "क्यों, क्यों क्या किसी सुन्दरी ने तुमको लूट लिया है।"

मित्र कहने लगे, "उसने क्या किया इसका निर्णय तो आप ही कर सकते हैं। आपके अनुभव में वृद्धि हो इसलिए वह कथा मैं आपको सुनाये देता हूं—

"उन दिनों मैं अमुक देश की राजधानी में ठहरा हुआ था। देश का नाम जानकर आप क्या करेंगे। कई बार मैं वहां जा चुका था पर समारोहों की चकाचौंध में मुझे किसीके विशेष सम्पर्क में आने का अवसर नहीं मिला था। नाच-रंग में ही दिन बीत जाते थे। जिसे टिकाऊ आनन्द कहते हैं, उसका अनुभव मुझे इसी बार हुआ था। लगभग दो महीने ठहरना पड़ा। एक शानदार होटल में राज्य की ओर से सब प्रबन्ध था और मेरी प्रार्थना पर एक दुभाषिये की व्यवस्था भी कर दी गई थी।"

"वह दुभाषिया एक युवती थी। मैं आज भी विश्वास से नहीं कह सकता कि वह सुन्दरी थी या नहीं पर निर्विवाद रूप से उसमें जादुई आकर्षण था। उसकी कटि अत्यन्त क्षीण, कन्धे पुष्ट और वक्षस्थल उभरा हुआ था। उसकी काली विनोदपूर्ण आंखें मेरी सबसे बड़ी कमजोरी थी। वह अक्सर बात-बेबात पर हँस पड़ती और तब उसके मोती जैसे सफेद, छोटे-छोटे, एक जैसे दांत, मेरे वक्ष में चमक उठते।

"कुछ औरतें होती हैं, जिनकी सुन्दरता अनुपम भले ही न हो, पर परेशान करनेवाली होती हैं। वह उन्हींमें थी। मैं उसका वास्तविक नाम नहीं बता सकता परन्तु सुविधा के लिए उसे मारिया कहूंगा। मारिया दिन के खासे बड़े भाग में साथ रहती थी। एक क्षण के लिए भी मैंने उसे कुपित होते नहीं देखा, हर क्षण वह मुस्कराती रहती और इस बात का बराबर ध्यान रखती कि मुझे कभी किसी प्रकार की असुविधा न हो। उसकी इस आश्चर्यजनक कुशलता पर मैं चकित था।

"मेरा काम कुछ ऐसा था कि मैं एक स्थान पर नहीं टिकता था। वह भी मेरे साथ घड़ी की सुई की भांति निरन्तर गतिमान रहती थी। ठीक दिये हुए समय पर मैं उसके आने की पदचाप सुनता और निश्चित समय पर वह मुस्कराती हुई विदा लेती...

"अचरज तो यह है कि मैंने कभी यह जानने का प्रयत्न नहीं किया कि वह कहां रहती है, क्या करती है, वह विवाहित है या अविवाहित। सच तो यह है कि उसने कभी अवसर ही नहीं दिया। पर उन्हीं दिनों अचानक

एक ऐसी बात हो गई कि मैंने मन-ही-मन कुछ अनुमान कर लिये और फिर तो पूछने का प्रश्न ही नहीं रहा।

"एक दिन मैं कुछ अस्वस्थ था और अपने कमरे में ही काम कर रहा था। मारिया पास बैठी पुस्तकों और चार्टों के सहारे मेरे प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न कर रही थी। कहीं दूर वसन्तकालीन पिघलती हुई बर्फ की बूंदें टप-टपकर गिर रही थीं...

"माफ करिये मैं यह बताना भूल गया कि कुछ दिन के लिए मैं राजधानी के पास एक गांव में चला गया था, जहां मैं कभी-कभी झींगुरों की झनकार भी सुन सकता था। वे गांव, हमारे गांवों जैसे नहीं थे। आधुनिक विज्ञान की सभी सुविधाएं वहां प्राप्त थीं। इसीलिए जहां एक ओर मैं बर्फ की बूंदों और झीगुरों का प्राकृतिक संगीत सुन सकता था वहां टेलीविजिन पर नव-युग के कलापूर्ण नृत्य भी देख सकता था।

"इसपर मुझे मारिया जैसी सुन्दरी का साहचर्य भी प्राप्त था। उस दिन मुझे समझाते-समझाते वह बिल्कुल पास आ गई। उसकी सांसों की सुगन्ध से मैं उत्तेजित हो उठा पर सहसा उसने अपना कालर ठीक किया और शरारत-भरी विनोदपूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा, कहा, 'क्या तुम नहीं समझते कि आगे आनेवाला जीवन आज के जीवन की अपेक्षा अधिक सुन्दर और सुविधाजनक होगा।'

"मैंने दृष्टि उठाकर पूछा, 'क्या मतलब ?'

" 'मतलब ! आज विज्ञान जिस गति से प्रगति कर रहा है उससे क्या युद्ध समाप्त नहीं हो जायंगे। संहारक न रहकर वह क्या मनुष्य के सुख का साधन न बनेगा। क्या मृत्यु हमारे लिए रहस्य रह जायगी ? क्या ये अनन्त नक्षत्र मण्डल, यह निस्सीम आकाश, अनन्त और निस्सीम ही बने रहेंगे ?'

"वह उज्ज्वल भविष्य के पूर्ण विश्वास से बोल रही थी जैसे वह उसके नेत्रों में चमक उठा हो। मुझपर एक नशा-सा छाता चला गया। मैं फुस-फुसा उठा और मैंने कहा, 'मेरा जीवन तो जैसा आज मनोरंजक और

आनन्दपूर्ण है वैसा उनका कभी न होगा। उज्ज्वल भविष्य की कल्पना उसकी वास्तविकता से कहीं सुखदायक होती है, फिर तुम्हारे पास रहने से अधिक सुख क़िसीको और क्या मिलेगा।'

"वह एकाएक हँस पड़ी, 'धन्यवाद, हमारे दार्शनिक मित्र। आप अतिशय उदार हैं।'

"कहते-कहते वह मेरे बिल्कुल पास आ गई और बिना किसी झिझक के उसने मेरा हाथ दबा दिया...

"एक क्षण के लिए कम्पायमान मैं उस स्पर्श की सुरभि-गन्ध से विमूढ़ होकर उसकी आंखों को देखता बैठा रहा। वे तब इतनी सुन्दर लगी थीं कि बखान नहीं किया जा सकता। उस दिन मेरे मन में नई आशा का अंकुर फूटा। मुझे महसूस हुआ कि मारिया के भीतर जो नारी है, वह मेरे पुरुष से दूर नहीं है। भीतर जो झिझक थी वह एकाएक दूर हो गई और उस दिन विदा के समय मैंने उसे एक बहुमूल्य उपहार भेंट में दिया।

"वह विनोदपूर्ण शरारत से मुस्कराई और धन्यवाद के साथ उसने उस उपहार को स्वीकार कर लिया। तब वह समूचा वातावरण मेरी दृष्टि में तरुणि की भांति नाच उठा...

"सोचता हूं काश कि यहीं अन्त हो जाता, पर यह तो आरम्भ था। ऐसा आरम्भ जो पथिक को सम्मोहित करके मंजिल को पास खींच ले आता है, वैसे ही जैसे सांप अपने शिकार को। अब मैं नियमित रूप से उपहार देकर अपना प्रेम प्रकट करने लगा। वह सादे ढंग से और लजाई-सी मुस्कराहट से बराबर उन्हें स्वीकार करती गई। उसने एक बार भी जाने या अनजाने विरक्ति प्रकट नहीं की। विदा के समय का उसका स्नेह-प्रदर्शन सदा की तरह कभी कोमलता लिये होता था तो कभी जोशोखरोश। यह सब उसके लिए बतख के तैरने के समान नितान्त स्वाभाविक था पर मैं तो निरन्तर उसमें डूबता चला गया।

"मैं अक्सर चिन्तायुक्त बेचैनी से सोचने लगा। मैं अनुभव करता था कि उसके मुंह से निकले एक-एक शब्द को मैं प्रेम करता हूं, उसकी पोशाक

की प्रत्येक सलवट को, सरसराहट को, उसकी एक-एक बरौनी को प्रेम करता हूं और वह प्रेम इतना गहरा है कि मैं उसकी जुदाई बर्दाश्त नहीं कर सकूंगा।...

"आप सोचते होंगे कि उसकी क्या अवस्था थी।

"वह सदा की तरह विनोदपूर्ण शरारत से मुस्कराती। सदा की तरह एक स्नेहिल साथी की तरह मेरी देखभाल करती। नये-नये स्थानों पर ले जाती, बहस करती और कभी उदास देखती तो तुरन्त नाट्यगृह अथवा ओपरागृह में व्यवस्था करती। जिद करके मुझे वहां बैठा आती।...

"और विदा..., हां, वह उसी जोशोखरोश के साथ विदा लेती...इस नियम में कभी व्याघात न पड़ता।...

"मुझे लगा जैसे मुझे इस नियम की यन्त्रता को भंग करना चाहिए, जैसे मुझे पहल करनी चाहिए।...

"सो उस दिन मैंने उसे अबतक के उपहारों में सबसे मूल्यवान उपहार भेंट किया। ऐसा करते समय उसके हाथ की उंगली मेरी उंगलियों से छू गई। वैसे हम सदा हाथ मिलाते थे, पर तब उस उंगली को ज़रा-सा दबाने में मुझे जो सुख मिला उसका बखान न कर सकूंगा, पर...उसके शरारती नयन सदा की तरह चमक उठे थे। उसने एक बार शायद कुछ कहना चाहा पर फिर धन्यवादपूर्वक उसे स्वीकार कर लिया। बोली, 'क्यों इतना कष्ट उठाते हो? क्यों?'

"मैंने कहा, 'क्योंकि मुझे आनन्द मिलता है।'

"वह बोली, 'ओह तुम कितने अच्छे हो, कितने भले...।'

"मैंने कहा, 'लेकिन तुमसे अच्छा नहीं, तुमसे भला नहीं...।'

"सहसा उसके मुख पर एक भाव आया। वह कुछ बेचैन-सी हुई। आह, यही तो मैं चाहता था। आनन्दातिरेक से मैंने उसका हाथ दबा दिया और...

"और वह द्रुतगति से कमरे से बाहर निकल गई। और मैं इस आकस्मिकता से अविभूत-विमूढ़ खड़े-का-खड़ा रह गया। आगे बढ़कर उसे

पकड़ न सका।

"अगले दिन सूचना मिली कि वह आ न सकेगी। अचानक किसी काम से उसे बाहर जाना पड़ा है। तभी एकाएक मुझे भी एकदम देश लौटने का आदेश मिला। मेरा हृदय इन परिवर्तनों को बर्दाश्त करने को तैयार नहीं था। लेकिन विधि का विधान...।

"प्रबन्ध करने में कई दिन लग गये। मैंने उसे आग्रहपूर्वक सन्देश भिजवाया कि जाने से पूर्व किसी भी तरह मिल सके तो कृतज्ञ होऊंगा।

"वह एरोड्राम पर आई। वही मारिया...वही छरहरी, पुष्ट कन्धों और विनोदपूर्ण काली आंखोंवाली मारिया। वह सदा की तरह शरारतपूर्ण मुस्कराहट से जगमगा रही थी। उसने बहुत ही बढ़िया पोशाक पहनी थी और वसन्त ऋतु के उस सुहावनी प्रभात में और भी सुहावनी लग रही थी। उसने मुझे देखते ही हाथ फैला दिये। मैंने उसकी पकड़ की उष्णता को महसूस किया। मैंने किसी तरह फुसफुसाकर कहा, 'बहुत आवश्यक काम से जाना पड़ रहा है। शीघ्र लौटूंगा।'

" 'ओह धन्यवाद। इस बार मेरे साथ ठहरना।'

" 'मारिया...।'

" 'हां कमल...कमल तुम बहुत भोले हो। बहुत...।

"और मैं जैसे प्रेम के अतल में डूब गया।

" 'अच्छा विदा'––उसने उसी जोशोखरोश के साथ कहा और फिर एक काफी बड़ा सुन्दर पैकेट मेरे हाथों में थमाती हुई बोली, "मेरी ओर से तुच्छ भेंट।'

"मैं तो तब था ही नहीं, फुसफुसाया, 'मारिया...।'

" 'कमल...'

"उसने फिर हाथ दबाया और शरारतपूर्ण मुस्कराहट से अपनी आंखें मेरी आंखों में डालते हुए कोमल स्वर में कहा, 'समय हो गया। विदा...'

" 'विदा...'

"सबसे विदा लेकर मैं उड़ चला पर मेरा हृदय तो वहीं रह गया था।

जितनी देर देख सका उसे देखता रहा। फिर घायल पक्षी की तरह सीट में घुस गया। मैंने अनुभव किया कि तब वसन्त-ऋतु भी वियोगिनी के रूप में गा रही थी।

"घर आकर सबसे पहले मैंने वह पैकेट खोला। सहसा समझ न पाया। उसमें वे ही सब उपहार थे जो समय-समय पर मैंने उसे दिये थे। साथ में एक चित्र था जिसमें हूबहू वह विनोदपूर्ण आंखोंवाली मारिया थी। उसके साथ था एक बलिष्ठ कन्धों और अस्त-व्यस्त बालोंवाला, अल्हड़ युवक और उन दोनों को घेरकर खड़े थे तीन बालक, सेब से लाल गदराये, फूल से सुन्दर, शैशव से चंचल...

"नीचे लिखा था—

" 'मुक्त व्यवहार वासना के कारण नहीं, उसके अभाव के कारण हो पाता है।' "

इतना कहकर लेखक ने अपने मित्रों की ओर देखा और पूछा...

लेकिन पूछने की आवश्यकता ही नहीं थी। विस्मित-विमूढ़ उन सबको भी जैसे काठ मार गया था।

अपना-अपना सुख

सोने जा चुका था कि अचानक मंगल की आवाज कानों में पड़ी। माथा ठनका—कैसे बेवक्त आया है ? जरूर कोई विपदा आ पड़ी है। बाहर आकर पूछा, "क्यों, क्या हुआ रे ?"

"हुजूर, दफ्तर से रिश्तेदार के घर चला गया था। अब आया तो चिट्ठी मिली। बहूड़िया बीमार है।"

कण्ठ अवरुद्ध था, इससे मैंने स्थिति की भयंकरता को भांप लिया, पूछा, "ज्यादा बीमार है ?"

बिना एक शब्द बोले उसने चिट्ठी मेरे हाथों में थमा दी। शुद्ध नागरी अक्षरों में किसीने धापो के मरणासन्न होने की सूचना दी थी। अचानक ध्यान आया कि एक गाड़ी तभी रात को एक बजे जाती है। उससे कहा, "चिन्ता मत करो। इसी गाड़ी से चले जाओ।"

उसकी आंखें अब भी सजल थीं। मेरी बात सुनकर उसने दोनों हाथ जोड़े और फिर उन्हींसे आंसू पोंछता हुआ वह तेजी से रात के अन्धकार में खो गया। फिर उस रात देर तक मुझे नींद नहीं आई। मंगल की याद आती रही। मेरी चार वर्षीया डोली उससे बहुत हिली थी। उस बातून की कभी न खत्म होनेवाली अटपटी बातों का वही एकमात्र श्रोता थी। स्कूल भी वह उसीकी गोद में चढ़कर जाती थी। रास्तेभर उसके कान खाती और कभी-कभी तो उसे उसीके साथ घण्टों उसकी कक्षा में बैठना पड़ता। घर पर भी वह उसे पकड़कर बैठ जाती, कहती—"मंगल ! तू गलत पढ़ता है। पहले अ-आ नहीं न-ल नल और ट-ब टब पढ़ते हैं।" फिर बिना अक्षर पहचाने किताब के पन्ने-के-पन्ने सुना डालती। घ-र घर को वह म-र मर

पढ़ती और जब वह ठीक करता तब लड़ मरती। तबतक नहीं मानती जब-तक वह स्लेट पर नदी, नाव और मल्लाह न बना देता।

एक दिन मैंने मंगल से पूछा, "मंगल! तुझे बच्चे बड़े प्यारे हैं ?"

हठात उसकी आंखों में सावन-भादों की घटा उमड़ पड़ी। कई क्षण वह बोल नहीं सका। ऊपर से कठोर दिखाई देनेवाले हरियाने के इस अधेड़ जाट के न जाने किस मर्म को मैंने छू दिया था। उसकी यह अवस्था देखकर क्षण-भर के लिए मैं स्वयं ही मर्माहत हो उठा। कुछ देर बाद एक दीर्घ निश्वास छोड़कर उसने इतना ही कहा, "हुजूर, बच्चों के लिए तीसरी शादी की है।"

'तीसरी शादी ?"

"हां, हुजूर !"

"बच्चे हैं ?"

"हां, हुजूर ! तीसरी के तीन बच्चे हैं। हुजूर, तभी तो प्यार करना आया है।"

कहकर वह मुस्करा उठा। उस तरल मुसकराहट के दिव्य आलोक में सहसा उस अनपढ़ व्यक्ति का सारा अस्तित्व आलोकित हो उठा। मुग्ध मन उस छवि को देखता ही रह गया। उसके इस सरल सत्य ने मन को जैसे कचोट दिया हो। उस दिन अनायास ही मंगल मेरे बहुत पास आ गया। उसके बाद तो वह बहुत बार अपने बच्चों को लेकर चिन्तित हो उठता। कहता, "बुढ़ापा घेरता आ रहा है और मेरे बच्चे अभी बच्चे ही हैं .."

अगले दिन सन्ध्या को दफ्तर से लौटकर क्या देखता हूं कि पत्नी बहुत व्यस्त हो उठी है। ठीक समय पर जब डोली ने अपने सहपाठी की खोज की तब उसे गैरहाजिर पाया। फिर तो उसने मां को प्रश्न-पर-प्रश्न करके हैरान कर दिया। मां में इतना सन्तोष कहां ? परिणाम यह हुआ कि शीघ्र खटपट हो गई और तब डोली ने चीत्कार कर-करके महाभारत का दृश्य उपस्थित कर दिया। बड़ी कठिनता से नदी पर ले जाकर शान्त कर सका। वहां जाकर पता लगा कि मंगल ने डोली का ज्ञान (?) बढ़ाने में कोई

कोर-कसर न छोड़ी थी। पाताल जाने का मार्ग नदी के भीतर होकर जाता है और स्वर्ग जाने के लिए हवाई जहाज में बैठकर उड़ा जाता है—यह सब डोली ने मंगल से ही सीखा था। पर मैं इतना ज्ञानी नहीं था, इसलिए मैं शीघ्र थक गया और मंगल के लिए चिन्तित हो उठा। लेकिन तीसरा, चौथा, पांचवां दिन भी बीत गया और कोई सूचना नहीं आई। दसवें दिन जाकर कहीं डाक-घर की योग्यता प्रमाणित करता हुआ उसके हाथ का लिखा एक पत्र मुझे मिला। लिखा था, "धापो मर गई। पन्द्रह दिन की छुट्टी देने की कृपा करें।"

यद्यपि इस बात की आशंका मुझे पहले ही थी, फिर भी सहानुभूति में मेरा हृदय भीग आया। पत्नी बोली, "बेचारे बच्चे! बेमा के होगये।" यह सुनकर मैं और भी दुखी हो उठा, क्योंकि मैं जानता था कि मंगल बच्चों को बहुत प्यार करता है। मैंने तुरन्त उसे एक सहानुभूतिपूर्ण पत्र लिखा और विश्वास दिलाया कि वह चाहे तो कुछ दिन और गांव में रह सकता है, बच्चों का प्रबन्ध करके ही उसे आना चाहिए। अन्त में यह भी लिख दिया कि डोली उसे याद करती रहती है।

डोली सचमुच उसकी अनुपस्थिति को अनुभव कर रही थी। उसका मन अब पढ़ने में नहीं लगता था। स्कूल जाने में भी आना-कानी करती थी। किताब लेकर चुपचाप बैठ जाती, बहुत देर तक ऐसी ही बैठी रहती, कभी-कभी भागकर मेरे पास आती और पूछ बैठती, "ताजी। मंगल को क्या हुआ?"

"कुछ नहीं बेटा! घर गया है। आ जायगा।"

"जल्दी।"

जल्दी का अर्थ वह नहीं समझती थी, इसलिए 'कब,' 'कब' की रट लगा देती। मुझे कहना पड़ता, "परसों आयेगा।"

"कल के बाद?"

"हां।"

कल क्या कभी आता है? मंगल भी नहीं आया। आया उसका

इस्तीफा। अलग से मुझे लिखा था, "बच्चे छोटे हैं। देख-भाल के लिए कोई नहीं है। किसके भरोसे छोड़ूं ? शहर में अकेले रख नहीं सकता। इसलिए इस्तीफा देना पड़ रहा है। वैसे यहां सब ठीक है। जमीन काफी है और अब नहर आने से उसकी कीमत बहुत बढ़ गई है। कुछ दिन बाद ठीक-ठाककर-के मिलने आऊंगा।

"डोली याद करती है ? उसे क्या कहूं। भूल जायगी।"

... ...

मंगल चला गया, टीपू आ गया। काम चलने लगा। डोली भी उसके साथ स्कूल जाने लगी, यद्यपि वह उससे ज़रा भी खुश नहीं थी। अक्सर उसकी शिकायत करती। वह न नदी बना सकता, न नाव। एक दिन वह दौड़ी-दौड़ी आई। बोली, "ताजी, मंगल बड़ा खराफ आदमी था। है न ताजी। वह आया ही नहीं।"

मैंने हँसते हुए कहा, "न, न डोली। वहां काम बहुत है। वह आ नहीं सकता।"

"तो तुम चलो।"

"मैं नहीं जा सकता, मुझे भी काम बहुत है।"

उसने क्रुद्ध होकर कहा, "तुम भी खराफ हो।"

क्रोध आते-आते हँसी आ गई और मैंने वायदा किया कि मैं शीघ्र ही उसे लेकर मंगल के गांव चलूंगा। यह वादा केवल डोली को प्रसन्न करने के लिए किया था, अन्यथा मंगल जैसे अनेक व्यक्ति जीवन में आते हैं और फिर क्षण की तरह नाम-शेष हो जाते हैं। प्यार-मुलाहिजा, आसक्ति-विरक्ति कोई भी इतनी तेज नहीं होती कि आदमी को बांधकर रख सके। मेरा जाने का इरादा एकदम नहीं था।

भाग्य की बात, दो दिन बाद मंगल स्वयं आ पहुंचा। हाथ में लकड़ी और कन्धे पर चादर डाले जबतक वह मेरे सामने ही न आ गया मैं उसे पहचान न सका। वह काफी दुबला हो गया था और चिन्ता के कारण उसका रंग धुएं जैसा हो रहा था। मैंने पूछा, "कैसे हो, मंगल ? तुम तो

आये ही नहीं।"

"बस हुजूर! ऐसा फंसा कि निकलना न हुआ। बहुड़िया क्या मरी, मुझे मार गई।"

"हां मंगल, हुआ तो बुरा, पर...।"

"जी हां, पर सबर तो करना ही है। कर लिया है।"

फिर कई क्षण हम दोनों चुप बैठे रहे। मैं उसके वाक्यहीन झुके मुख को देखता रहा, फिर अवरुद्ध कण्ठ से मंगल ने ही कहा, "अब हुजूर! बच्चों के मारे परेशान हूं, बिना मेहरिया उन्हें कौन सम्हाले?"

"सो तो है, सो तो है।"

"बस उसी फिराक में हूं। दुनिया का मुंह बड़ा है। पांचसौ रुपया मांगें हैं।"

कुछ समझ में नहीं आया। अचकचाकर पूछा, "क्या मतलब? कौन मांगता है पांचसौ रुपया?"

"बेटीवाला।"

"यानी..."

"जी, अब कैसे बताऊं," मंगल बड़े संकोच से बोला, "बच्चों के लिए मां तो चाहिए ही। बड़े होते तो कोई बात थी। याने हैं। मैं उन्हें कहां-कहां लिये फिरूं?"

हृदय को धक्का-सा लगा। बोला, "तो यूं क्यों नहीं कहता कि चौथा विवाह कर रहा हूं?"

"अब कुछ ही समझ लो, हुजूर। पैर से कुछ लंगड़ी है, पर बच्चों को सम्हाल ही लेगी। एक की तो हालत भी खराब है।"

"हूं ··" इससे आगे मैं कुछ न कह सका। मेरा मन न जाने क्यों खट्टा-सा हो आया। उस प्रसंग को बदलने के लिए मैंने डोली को बुलाना चाहा, पर सहसा उसने कहा, "उसे न बुलाइये। मैं रुकूंगा नहीं। उसे दुःख होगा। भूल रही है। भूलने दीजिये।"

और वह चला गया। मन की कड़वाहट एकाएक कसक में बदल गई।

अपने पर ही लज्जित हो उठा।

फिर दिन बीतते गये। अबतक डोली की नई मित्रता खासी जम गई थी। कभी-कभार मंगल की याद उसे आ अवश्य जाती है, पर उसे लेकर वह अब झगड़ा-टंटा खड़ा नहीं करती। शायद उसकी स्मृति बिल्कुल ही धुल-पुछ जाती, पर अचानक एक दिन क्या देखता हूं कि जैसे ही आफिस से लौटा, डोली भड़भड़ाकर मेरे कमरे में आ घुसी और बिना किसी भूमिका के बोलना शुरू कर दिया, "ताजी, ताजी, मंगल बड़ा खराब है, गन्दा है।"

भूकम्प के इस धक्के को सहकर मैंने उत्सुकता से पूछा, "क्यों, क्यों?"

"दीपू कहता है उसने एक आदमी को मार डाला। गन्दा..."

जैसे वज्रपात हुआ हो, मैं अतिशय चिन्तित हो उठा, पर प्रकट में मैंने कहा, "अच्छा, अच्छा, तुम खेलो।"

जाते-जाते डोली बोली, "मंगल खराब है न? हैं ताजी, अम्मा भी कहती थीं।"

मैंने कहा, "हा, हां, बहुत खराब हैं। अब उससे कभी न मिलना।"

डोली ने गर्दन हिलाकर स्वीकृति दी और चली गई। मैं कुछ देर आशंकाओं से घिरा विमूढ़-सा बैठा रहा।

तभी पत्नी ने आकर कहा, "कुछ सुना आपने?"

"हां सुना है कि मंगल ने किसीको मार डाला। किसको मार डाला?"

"अपने भावी ससुर को। पांचसौ रुपये में बात तय हुई थी, पर ऐन वक्त पर उसे सातसौ मिल गये। उसने मंगल को अपनी बेटी नहीं दी। मंगल को जल्दी थी, क्योंकि उसका बेटा बीमार था। जब उसने इन्कार कर दिया तो .."

"तो मंगल ने क्रोध में आकर उसे मार डाला।"

"हां।"

"तभी?"

"नहीं, तब तो वह चला गया था। दो दिन बाद जब उसका बेटा मर गया, तब अगले दिन रात को सोते समय उसने यह काम किया।"

"हूं...पकड़ा गया ?"

"नहीं, फरार है।"

एक मोटा-सा विशेषण मुंह से निकलते-निकलते रह गया। पत्नी बोल उठी, "देखने में कितना भला लगता था !"

"आदमी का कुछ पता नहीं।"

"अभी दिन ही कितने हुए थे। इतनी जल्दी बुढ़ापे में चौथा विवाह करने चला था मुंहझौसा कहीं का ?"

"बच नहीं सकता, पकड़ा जायगा।"

"क्योंजी फांसी होगी ?"

"हां।"

पत्नी का चेहरा एकाएक राख-सा हो आया। बोली, "अच्छा हुआ, मुआ चला गया, नहीं तो मेरी डोली उससे कैसी हिल गई थी ! पता नहीं किसी दिन..."

मैंने हठात दृष्टि उठाकर पत्नी को देखा--ठीक तो कहती है, क्या नहीं हो सकता था ! प्रकट में इतना ही कहा, "व्यर्थ की चिन्ता क्यों की जाय। किये का फल भोगेगा।"

इस बार मैंने उसे बिल्कुल भूल जाने की चेष्टा की, पर वह तो फरार था, इसलिए जब-तब मेरे मस्तिष्क पर आक्रमण करता रहता था। 'कहां होगा ?' 'क्या करता होगा।' 'अभी तक पकड़ा क्यों नहीं गया ?'...ये प्रश्न मुझे निरन्तर परेशान करने लगे। तभी एक दिन दफ्तर से देर से लौटना हुआ। अंधेरा हो चुका था। कपड़े उतारे ही थे कि किसीने कहा, "नमस्ते।"

स्वर परिचित था। सहज भाव से 'नमस्ते' कहकर जो गर्दन उठाई तो ठगा-सा देखता ही रह गया--वह मंगल था। थका हुआ, वृद्ध, जर्जर-मलिन। कई क्षण बाद कह सका, "मंगल तुम ?"

"हुजूर।"

"तुम यहां कैसे आये ? किसीने देखा तो नहीं।"

उसने यथाशक्ति दृढ़ स्वर में कहा, "आप फिकर न करें, मुझे किसीने नहीं देखा।"

फिर कई क्षण बीते। मैंने कहा, "मंगल, तुमने यह क्या किया ?"

"हुजूर, उसने मुझे धोखा दिया और मैंने उसे मार डाला।"

"लेकिन...अच्छा, जो हुआ सो हुआ। अब यहां क्यों आये हो ?"

"बस एक बार डोली से मिलने।"

सहसा एक विचार मेरे मस्तिष्क में कौंध गया। मैंने पूछा, "जिन बच्चों के लिए तुमने सबकुछ किया वे कहां हैं ?"

प्रश्न पूछते समय मेरी दृष्टि उसके मुख पर थी। देखा—निमिष मात्र में उसपर कई रंग आये, शिराएं तनीं, नेत्र दहके पर दूसरे ही क्षण सब कुछ शान्त हो गया। बोला "हुजूर, एक तो मां के बाद चल बसा था। दूसरा पीछे तड़प-तड़पकर मर गया। उसीकी खबर पाकर मैं घर गया। आज तीसरे को अपने हाथों से गला घोटकर मार आया हूं।"

भयानक वज्र-घोष से जैसे मेरा मस्तिष्क झनझना उठा। मैंने चीख-कर कहा, "मंगल !"

करुण स्वर में मंगल बोला, "क्या करूं मुझे और कुछ सूझा ही नहीं।"

मैं जैसे आपेमें नहीं था। उसकी निष्कलंक निर्मलता मेरी दृष्टि में मलिन हो उठी थी। उत्तेजित होकर मैंने कहा, "तुम अभी चले जाओ। जाओ, जाओ, नहीं तो..."

मंगल ने उठते-उठते कहा, "न, न, आप कष्ट न करें। मैं वहीं जा रहा हूं। जाने से पहले..."

"जाओ।"

"अच्छा...अच्छा जी...समझता था आप...अच्छा, नमस्ते।"

और एक झटके के साथ वह चला गया, जिससे मैं उसकी आंखों के आंसू न देख सकूं।

मैं खूब जानता हूं वह तब रो रहा था।

... ...

उसके बाद बस एक बार फिर उससे मिलने का अवसर आया। उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और उसे फांसी की सजा हुई। तब अन्तिम बार उसने मुझसे प्रार्थना की कि एक बार डोली से मिला दें।

मैं मना न कर सका। किसीसे कुछ कहा भी नहीं, न डोली की मां से, न डोली से। नदी पर घुमाने के बहाने, मैं उसे लेकर सीधा जेल पहुंचा।

कोई देखता तो उस समय मेरा मख राख-सा धूमिल हो आया था और धुएं से भरा मेरा अन्तर रह-रहकर कांप उठता था, पर अपनी समझ में जीजान से अपनेको सम्हाल रहा था। बार-बार सूखे होठों पर जीभ फेरता और हर किसीको देख मुस्कराने की चेष्टा करता।

कुछ देर बैठे रहना पड़ा। तब कहीं जमादार ने आकर सूचना दी, "साहब ! वह मिलना नहीं चाहता।"

अचकचाकर मैंने कहा, "लेकिन उसीने तो..."

"जी हां, उसीने कहा था और अब भी उसीने कहा है।"

"क्या कहा है ?"

"कि साहब से कह दो——वह आये, उनकी बड़ी कृपा है। डोली से मिलकर सचमुच मुझे बहुत सुख मिलता, लेकिन बेचारी बच्ची ! मुझे देखकर उसके मासूम दिल को शायद चोट लगे और फिर वह जीवन-भर दुःखी रहे। मैं यह नहीं चाहता। मेरा आशीर्वाद है कि वह..."

सुनकर मेरी वाणी मूक और पैर जड़ हो गये। नहीं जानता, कब वह द्वार बन्द हुआ और कब मैं विक्षिप्त-सा घर लौटा।

●

युगान्तर

उसका चेहरा सहसा राख हो आया। एक क्षण में दुर्वासा के अभिशाप ने मानों वहां सबकुछ विषाक्त बना दिया। उत्सव के सारे स्वर मौन हो गये। स्वामी ने बाहर से आकर सूचना दी कि वर के पिता तभी कन्यादान लेंगे जब दहेज का पाई-पाई भुगतान हो चुकेगा...

"अब क्या होगा"—उसने विकल-विह्वल स्वर में पूछा।

"सर्वनाश।" स्वामी ने अपने ललाट पर हाथ मारा और फिर बौखलाये हुए बाहर की ओर दौड़े। तब घर की नारियों ने उसे घेर लिया। कई क्षण पाले मारी-सी उसे देखती रही। फिर अपनी-अपनी भाषा में उस भूकम्प पर टीका करने लगीं। एक बार गरदन घुमाकर उसने सबको देखा फिर तेजी से बाहर निकली चली गई। उसे मूर्च्छा आने लगी थी और वह उससे बचना चाहती थी। यह विपद आकस्मिक हो, सो बात नहीं, सब जानते थे कि कुछ होकर रहेगा। निर्धन की पढ़ी-लिखी सुलक्षणा बेटी के लिए सुयोग्य वर क्या यूंही मिल सकता है...

वह सीधी वहां पहुंची जहां वधू-वेश में उसकी बेटी बैठी थी, पाया कि अभिशाप की ज्वाला यहां भी पहुंच चुकी है। सम-वयस्काओं से घिरी वह पत्थर की मूरत एकटक न जाने कहां देख रही है। लेकिन मां के पैरों की आहट पाकर बेटी ने उधर देखा। वह दृष्टि जैसे उसके दिल में छिद गई। फिर खड़ी न रह सकी। सीधे अन्दर की कोठरी में जाकर औंधे मुंह फर्श पर गिर पड़ी। उस दृष्टि ने जैसे कुछ खुरच दिया था, जैसे कुछ धो दिया था। क्षणभर में पुरानी स्मृति ताजी हो आई—

पच्चीस वर्ष पूर्व एक दिन वह भी इसी तरह वधू-वेश में पत्थर बनकर

बैठी थी। इसी तरह वर के पिता ने दहेज की पाई-पाई चुकाये बिना कन्या-दान लेने से इन्कार कर दिया था। वह बी० ए० पास बेटे का बाप था। हाथी पर चढ़कर पैसे बिखेरता आया था और उसी गौरव का वह मूल्य मांगता था। इस मांग के बाद जो कोहराम मचा उसमें शहनाई का स्वर बिल्कुल डूब गया। पिता ने समधी के पैर पकड़े पर वह थे कि अजगर की तरह जकड़ को कसते जा रहे थे। तभी सहसा वहां जमींदार आ पहुंचे। बड़े भले आदमी थे, जमींदारों जैसे नहीं थे। बोले, "उठो रामधन।"

रामधन उठकर कांपता हुआ एक ओर खड़ा हो गया। और तब उसने आंखें मल-मलकर देखा कि जमींदारसाहब ने वर के पिता के पैर पकड़ लिये हैं और कह रहे हैं, "शाहजी, यह रामधन की बेटी का विवाह नहीं है, इस गांव की बेटी का विवाह है, मेरी बेटी का विवाह है। कितना रुपया चाहते हो?"

शाहजी ने इधर-उधर की बातें करके कहा, "पांच हजार का वादा किया था। पूछ लीजिये...।"

जमींदार ने रामधन की ओर देखा। वह हकलाता हुआ बोला, "हुजूर, दो हजार का इन्तजाम कर पाया हूं। बाकी के लिए...।"

"एक हजार हम देते हैं"—जमींदारसाहब ने एकदम कहा और समधी से बोले, "उठो शाहजी! शरण में आये की रक्षा करो। मुहूर्त बीता जा रहा है, बाकी फिर लेते रहना।"

लेकिन शाहजी नहीं उठे। तब भी नहीं उठे जब जमींदारसाहब के कहने पर गांववालों ने पांचसौ रुपये अपनी ओर से देने का वचन दिया। बहुत अनुनय-विनय की, पगड़ी तक उतारकर पैरों पर रख दी, पर बी०ए० पास वर के पिता का दिल नहीं पसीजा। तब सहसा जमींदारसाहब उठे और सबको अपने साथ लेकर वहां से चले गये। उन्होंने अपने कारिन्दे को बुलाया और कहा, "जनवासा चारों तरफ से घेर लो। एक भी बाराती बाहर न जा सके।"

फिर वह रामधन की ओर मुड़े, "रामधन, कोई और लड़का निगाह

में है।"

"मालिक...।"

"मालिक की बात छोड़ो, रामधन ! मैं लड़के की बात पूछता हूं। कोई योग्य लड़का है ?"

रामधन ने हकलाते हुए जवाब दिया, "है मालिक।"

उसके बाद जो कुछ हुआ वह यह था कि जमींदारसाहब ने उस बारात को पिटवाकर गांव से निकाल दिया और नये वर के साथ उसी मुहूर्त में रामधन की बेटी का विवाह हुआ। सारा गांव जमींदार की कीर्ति-गाथा से गूंज उठा। बेटी के मां-बाप अपना रक्त देकर भी उस उपकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने को तैयार थे, पर जिस बेटी के लिए यह सब हुआ उसके दिल की बात किसीने भी नहीं पूछी। बेटी क्या पत्थर ही है ? पत्थर की भाषा कोई जानता नहीं, इसीसे शायद सबने समझ लिया है कि उसे दर्द नहीं होता...तो क्या उसे दर्द हुआ था ? हाथी पर चढ़े बी० ए० पास वर को सजे-धजे देखकर जब सहेलियों ने चुहल की थी, उसे गुदगुदाया था तब मन-ही-मन वह कितनी खुश हुई थी। उन अल्प-जीवी मादक क्षणों में कैसे-कैसे महल बनाये थे उसने, लेकिन जब भूकम्प ने उन महलों के खण्डहर तक नहीं छोड़े, उसकी कल्पना-लता की राख तक को उड़ा दिया तो क्या वह उस अपमान से तिलमिला नहीं उठी थी ? और जब फिर से वहां की दुनिया सुन्दर हो उठी, नया दूल्हा घोड़े पर चढ़कर उसके द्वार पर आया और उसकी सहेलियों ने उमंग से भरकर उससे कहा, "अरी अपने भाग्य को सराह। उससे कहीं सजीला रोबीला है। ऐसे क्या देखती है, न यकीन आता हो अपनी आंखों से देख ले. चल, उठ।" लेकिन वह नहीं उठी। उसने एक गहरा निःश्वांस खींचकर बस इतना ही कहा, "बार-बार क्या देखना ?"

शायद विवाह के उस पुनर्जीवित हो-हल्ले में किसीने भी उसकी व्यथा को नहीं समझा। लेकिन अब एक पहचानी-सी टीस उसके दिल में उठ रही है। उसे अब पता लगा है कि वह टीस उन पच्चीस वर्षों में बराबर उसके वक्ष में दबी रही है। आज उसकी बेटी की दृष्टि ने जैसे उसीपर से आवरण

उतार दिया है। जिसके साथ वह पच्चीस वर्षों से गिरस्ती बिता रही है, जो उसके बच्चों का जनक है, वही तो जमींदार की दया से घोड़े पर चढ़कर उसका उद्धार करने आया था...और अगर वह हाथीवाला बी० ए० पास वर उसका पति बनता तो क्या होता ? होता क्या...इसी तरह कमोवेश सुख-दुःख के साथ उसकी गिरस्ती चलती। इसी तरह वह उसके बच्चों का जनक बनता। हाय रे! कैसा है यह विधान ? स्वामी नामधारी किसी भी व्यक्ति को नारी प्यार कर सकती है। कोई भी स्वामी बनकर उसे हृदय की देवी कह सकता है। उसे बस एक कवच चाहिए...

वह तड़फड़ा उठी। वह अपने घर में साहसी प्रसिद्ध है। बड़ी-से-बड़ी आपद-विपद में नहीं घबराती, पर आज वह भागी-भागी फिर रही है। वह किसीके सामने नहीं पड़ना चाहती, क्योंकि आज उसके अन्तर में एक सोया हुआ प्रश्न जाग उठा है। लेकिन नहीं, प्रश्न चाहे हजार जागें वह भागेगी नहीं। वह अपनी बेटी के साथ वही कुछ नहीं होने देगी जो उसके साथ हुआ था।

लेकिन आगे वह कुछ सोचे भड़भड़ाकर किसीने कोठरी के किवाड़ खोले। देखा, स्वामी है। उसके मुंह से निकल गया, "क्या हुआ ?"

स्वामी ने कहा, "वे किसी भी तरह राजी नहीं होते।"

वह एकबारगी कह उठी, "नहीं राजी होते तो मना कर दो।"

स्वामी ने अचकचाकर उसे देखा, "मना तो कर दूं लेकिन..."

वह बोली, "लेकिन वेकिन कुछ नहीं। वे लौट जायंगे तो कोई भूचाल नहीं आ जायगा।"

स्वामी उस विपद में भी हँस पड़े, "तुम्हारे साहस को जानता हूं लेकिन जमींदार की कृपा से जैसे तुम्हें दूल्हा मिल गया था वैसे आज तुम्हारी बेटी को नहीं मिल सकता।"

उसने एकाएक गरदन उठाकर तीव्र स्वर में कहा, "उस जमींदार की कृपा की आपको बड़ी याद है, लेकिन कभी यह भी सोचा कि मेरे दिल पर क्या बीती होगी।"

कहकर उसने अपनी जीभ स्वयं काट ली। यह उसके मुंह से क्या निकल गया? लेकिन उसके स्वामी ने तनिक भी रंज किये बिना उत्तर दिया, "तुमने कभी अवसर ही नहीं दिया, पर आज सबकुछ अपने-आप याद आ गया। इसीलिए कहता हूं कि ये लोग यूं ही नहीं जा सकते।"

स्वामी की तरफ देखते-देखते तब उसकी आंखें डबडबा आईं। कृतज्ञ भाव से उन्हें पोंछते हुए उसने कहा, "फिर क्या जो मांग रहे हैं, वह दोगे?"

"नहीं है तो कहां से दूंगा? कर्ज करने या डाका डालने का हौसला मुझमें नहीं है।"

अनबूझ-सी वह अब भी उन्हें देखे जा रही थी। बोली, "दोगे नहीं तो क्या...?"

वह अपना वाक्य पूरा कर पाती कि बाहर से एकाएक कोलाहल उठा। दोनों एक साथ उसका रहस्य जानने को उधर ही भागे। स्वामी की बहन दौड़ी हुई आ रही थी। हांफते-हांफते बोली, "भइया, बाहर जाओ। जनवासे में बाप-बेटे लड़ पड़े।"

"क्या सच?" स्वामी ने कहा और वह तेजी से भागते चले गये। विस्मय-विमुग्ध उसने अपनी ननद की ओर देखा। ननद अब भी हांफ रही थी। बोली, "सांस ले लूं, बहू, जमाना पलट गया है। सुना है लड़के ने कह दिया है कि शादी किये बिना नहीं जा सकता।"

"सच?" उसे एकाएक विश्वास नहीं आया। लेकिन उसकी ननद ने गर्व से सिर उठाकर कहा, "सच नहीं तो क्या। यह सौदा तेरे जीजाजी ने पटाया है। सो अब कोई डर नहीं, बहू।"

सौदे की बात सुनकर न जाने क्यों उसका मन घृणा से भर आया। किसी तरह उसे दबाकर वह बोली, "लेकिन उसके पिता न मानें तो...।"

"नहीं कैसे मानेंगे, बावली! कमाऊ बेटा है, बाप को झुकना ही पड़ेगा।"

और सचमुच कुछ क्षण बाद सब कहीं पर यह समाचार फैल गया कि

समधी साहब ने समझौता कर लिया है। तुरन्त विवाह-मण्डप में अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। शहनाई की ध्वनि फिर कोलाहल को चीरकर, सब किसीके मनों में हिलोरें पैदा करने लगी। तभी स्वामी ने आकर उससे कहा, "इस तोड़फोड़ के लिए काफी परिश्रम करना पड़ा है। जाओ बेटी को तैयार करो। अब देर न हो। किसी तरह फेरे फिर जायं। बेटा अब भी ढुलक सकता है।"

हर्ष से पुलकित हो वह अन्दर की ओर दौड़ी। बेटी के पास काफी भीड़ लगी हुई थी। उसने बाहर से ही कहा, "मण्डप से बुलावा आ रहा है, जल्दी चलो।"

लेकिन कहकर वह मुड़े कि एक लड़की ने तेजी से पुकारा, "चाची, ओ चाची।"

"क्या है ?"

"उमा नहीं आती।"

उसका चेहरा फक पड़ गया। उमा उसकी बेटी का नाम है। पूछा, "क्यों क्या बात है ?"

इसका जवाब दिया स्वयं वधू वेशधारिणी उमा ने। सागर-मंथन के बाद का-सा वह रूप, नेत्र वीरबहूटी जैसे, मुख सावन-भादों के आकाश जैसा। तड़पकर बोली, "सुन लो, मां, मैं जहर खाकर मर जाऊंगी पर यह विवाह नहीं करूंगी, यह सौदा नहीं होने दूंगी।"

जैसे त्रिलोकी आलोड़ित हो उठी। व्यूह-रचना फिर व्यर्थ हो गई। पर उन शब्दों में न जाने क्या था, जिसने सुना वही मर्माहित हो उठा। बहुत देर तक कुछ अच्छा-बुरा कहने को सूझ न पड़ा। कई क्षण बाद जब बाहर से बहुत आवाजें आ चुकी थीं तब आंसुओं के भीतर से मुस्कराते हुए मां ने कहा, "और कोई कुछ भी कहे पर मैं तुम्हारा साथ दूंगी, बेटी। कम-से-कम इस मुहूर्त में यह विवाह नहीं होगा।"

●

नचिकेता

ईश्वर ने कमरे में प्रवेश किया तो उसके कानों में कुछ ऐसे शब्द पड़े कि उसे ठिठक जाना पड़ा। तब दृष्टि की सीमा में कोई नहीं था पर वह जानता था कि पास के कमरे में बच्चे नाटक कर रहे हैं, अक्सर करते हैं। वीनू कह रहा था, "मैं तुम्हारे पास नहीं आऊंगा, नहीं आऊंगा।"

दीपू बोला, "तो तुम मर जाओगे। तुम्हें रोटी नहीं मिलेगी।"

वीनू ने कहा, "ना मिले। मैं तुमसे चिट्ठी नहीं लिखवाऊंगा। चिट्ठी लिखवाना बुरा होता है।"

दीपू कड़ककर बोला, "बुरा कैसे होता है। पिताजी चिट्ठी लिखते हैं। सब लिखते हैं।"

वीनू ने उसी तड़प के साथ कहा, "सब बुरा करते हैं। मां कहती है..."

यह सुनकर ईश्वर का चेहरा एकाएक फक पड़ गया। वह चाहता नहीं था पर न जाने कौन-सी अज्ञात शक्ति उसकी वाणी में प्रवेश कर गई और यह तेजी से पुकार उठा, "दीपू, क्या कर रहे हो, तुम? पढ़ते क्यों नहीं।"

नाटक एकाएक समाप्त हो गया। दो क्षण किंकर्त्तव्य-विमूढ़ रहने के बाद दीपू पुस्तकें लेने चला गया और वीनू बाहर जाने को मुड़ा कि ईश्वर ने पूछ लिया, "तुम्हारी मां कैसी है, वीनू?"

"बुखार आ रहा है।"

"उतरा नहीं?"

"नहीं, लेटी है।" वीनू ने जाते-जाते कहा।

ईश्वर जोर से 'हूं' कहकर रह गया। फिर मेज पर आकर उसने कुछ

कागजों को व्यर्थ ही इधर-से-उधर किया, कई बार किया, नहीं समझ में आया तो उन्हें ज़ोर-से उठाकर एक ओर पटक दिया। फिर उतने ही ज़ोर-से पेपर-वेट उठाकर दे मारा। इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुआ तो दराजों को जोर-जोर से खोल-भेड़कर कुछ ढूंढ़ने लगा। क्या, यह वह स्वयं नहीं जानता था। परिणाम यह हुआ कि उसने फिर दीपक को पुकारा, "दीपू।"

"जी !" दीपू ने आकर कहा।

"तुमने मेरी मेज फिर छेड़ी ?"

"मैंने नहीं छेड़ी। मैं तो यहां आया भी नहीं।"

"झूठ बोलते हो...।"

दीपू एकदम भरकर बोला, "मैं इधर कब आया ? मैं इधर बिल्कुल नहीं आया।"

और वह रो पड़ा। उस क्षण ईश्वर ने चाहा कि वह दीपक को खूब पीटे, खूब प्यार करे लेकिन हुआ यह कि उसने एकदम कहा, "रोना बन्द करो। रोने को किसने कहा।"

दीपक सुबकता रहा तो प्यार से उसे अपने पास खींच लिया, बोला, "वीनू के घर गये थे।"

"गया था।" दीपक ने गहरी सुबकी ली।

"उसकी मां को बुखार है।"

"बुआजी को बहुत तेज बुखार है, पिताजी।"

ईश्वर ने एकदम कहा, "जाओ ज़रा पूछ तो आओ कि किसी डाक्टर को दिखाना है ?"

दीपक तेजी से बाहर निकला चला गया और ईश्वर कुर्सी पर बैठकर विचारों में डूब गया—यह शान्ति भी विचित्र है। एकदम अपवाद। किसी-से कुछ चाहती ही नहीं, मांगती ही नहीं, शिकायत भी नहीं करती। भला ऐसा भी कहीं होता है...

सहसा ध्यान भंग हो गया। एक स्त्री उसे नमस्कार कर रही थी। वह उसे पहचानता नहीं था। पूछना चाहा कि वह स्वयं बोल उठी, "मुझे

आनन्दबाबू ने भेजा है।"

ओहो आप मालतीदेवी हैं, बैठिये, बैठिये। आप ट्रेनिंग कोर्स में दाखिल होना चाहती हैं।"

"जी हां।"

"मैंने कह दिया है। पूरी आशा भी है पर आप डा० वर्मा से मिल लें तो अच्छा हो।...अरे वही प्रोफेसर वर्मा..."

"जी, मैं तो उन्हें नहीं जानती।"

"आप तो मुझे भी नहीं जानती पर आप निश्चित रहिये, मैंने उनसे कह दिया और मैं चिट्ठी लिखे देता हूं।"

वह चिट्ठी पूरी हुई थी कि सूचना-विभाग के अनु सचिव का फोन आ गया। उनका मामला योजना-कमीशन में फंसा हुआ था। उनसे कहा, "बस, तुम्हारा काम अब हुआ समझो। खन्नाजी से बातें हो गई हैं। अब तुम एक बार उनसे मिल लो। हां, हां, मैं प्रबन्ध करूंगा। और प्रबन्ध क्या? उन्हें भोजन के लिए निमंत्रित कर रहा हूं। तुम भी आओगे। बस फुरसत से बातें होंगी।"

यह काम निबटा तो शर्माजी हांफते हुए आ पहुंचे, "क्या बतायें आज-कल तो कोई भी काम बिना चिट्ठी के नहीं होता, ईश्वर। यार ज़रा गुप्ता से कह दो कि विनोद के लिए एक चिट्ठी लिख दे। बम्बई जा रहा है। इन्टरव्यू है, वही इन्जीनियर्स का। जरा ध्यान रखें।"

ईश्वर ने वह काम भी पूरा किया। उसके साथ रोज ही ऐसा होता था। क्लर्क, अध्यापक, सचिव, संचालक, वकील, विद्यार्थी, व्यापारी सभी का काम उसे करना या करवाना पड़ता था। सब काम हो ही जाते हों सो बात नहीं लेकिन फिर भी मजाल कि कभी किसीको उसने 'न' कहा हो। बहुत परे-शान होता है तो कह देता है, "देखो भाई, मैं ईश्वर नहीं हूं। मां-बाप के नाम रख देने से क्या होता है। तुम यह काम किसी दूसरे से करवा लो। मैं उसे चिट्ठी लिखे देता हूं।"

और जब लोग उससे कहते हैं, "ईश्वरबाबू। ऐसे कबतक चलेगा?"

तो वह अपूर्व शान्ति से उत्तर देता है, "हमेशा ऐसा ही होता रहा है, और ऐसा ही होता रहेगा। बस, कभी कम, कभी ज्यादा। राम-राज्य तो आदर्श है। आदमी जबतक अति-मानव की योनि तक नहीं पहुंच जाता तबतक चिट्ठी-पत्री सिफारिश-दोस्ती सब चलेगी। और मेरे प्यारे दोस्त! कोई किसीके काम आये इससे अच्छी और क्या बात हो सकती है..."

ध्यान फिर भंग हो गया। दीपक भागता हुआ आया, बोला, "पिताजी! बुआ जी कहती हैं कि मुझे डाक्टर की दवा अच्छी नहीं लगती।"

वह चिहुंक उठा, "नहीं लगती, नहीं लगती, क्या नहीं लगती। दवा अच्छी नहीं लगती। हूं, दवा अच्छी नहीं लगती।...अच्छा तुम जाओ, अपना काम करो। नहीं अच्छी लगती तो नहीं अच्छी लगती। मैं क्या करूं। मैं कहता हूं। तुम खड़े क्यों हो जी, जाओ, जाओ भाई। मुझे अपना काम करने दो।

दीपक चला गया। ईश्वर कई क्षण तक कमरे में इधर-से-उधर, उधर-से-इधर घूमता रहा सोचता रहा, 'डाक्टर की दवा अच्छी नहीं लगती। हूं...बुखार आते पन्द्रह दिन हो गये पर वही खैराती मतब की पुड़िया चलती है। कितनी बार कहा--इतने डाक्टर मेरे दोस्त हैं। और न सही डाक्टर सरकारी अस्पताल तो है। पर वहां तो वही मुस्कराना और जवाब देना, "अब भाईसाहब! कौन जाय इतनी दूर, फिर सरकारी अस्पताल में ध्यान से देखता कौन है?"

"मैं जानता हूं नहीं देखते। देखना सम्भव ही नहीं है पर मैं चिट्ठी लिखे देता हूं। बड़े डाक्टर मेरे परिचित हैं।"

"आपकी कृपा है, भाईसाहब पर मुझे तो वैद्य की दवा ही रास-आती है।"

स्कूल घर से चौदह मील पर है। वही गांव में रहती है। रोज आना-जाना तो हो नहीं सकता। यहां वीनू दादी के पास अकेला रहता है। ईश्वर ने उसे एक अच्छे नरसरी स्कूल में भरती करवा दिया है। उसकी मां से भी बार-बार कहता कि वह चाहे तो क्या उसका तबादला शहर के

स्कूल में नहीं हो सकता पर वहां तो वही मुस्कान और वही उत्तर, "भाई-साहब ! मुझे तो गांव का स्कूल ही अच्छा लगता है। अगले वर्ष वीनू को भी वही ले जाऊंगी।"

——ले जाओ भाई, तुम्हारा बेटा है। गांव में रखो, शहर में रखो हम कौन ? पर यह है ज्यादती। सरासर ज्यादती, भला कोई बात है। अपना तो अपना है, लेकिन लड़के का जीवन बिगाड़ने का उसे क्या अधिकार है। ...लेकिन भाई, लड़का उसका है, उसीका रहेगा।

वह है कौन। वीनू के द्वारा ही ईश्वर का उससे परिचय हुआ। उसने पहली बार जब एक नये लड़के को दीपक के साथ देखा तो न जाने क्यों उसपर उसकी दृष्टि गड़ गई। साधारण लड़कों से वह कुछ अलग था। सभ्य, चुस्त और चतुर। उसने पत्नी से पूछा, "यह कौन है जी।"

"पड़ौस में एक विधवा मास्टरनी आकर रही हैं। उसीका बेटा है। बेचारी बड़ी भली है। पति भी मास्टर था पर दो वर्ष हुए बेचारा एक दुर्घटना में मारा गया।"

"कहीं अजीतकुमार तो नहीं।"

"जी, जी, वही।"

जानकर ईश्वर एक तरल श्रद्धा से भर आया। उसके बाद वह कैसे शान्ति का भाई और उसके बेटे विनय उर्फ वीनू का मामा बन गया यह समझ लेना कुछ कठिन नहीं रह जाता। वह उनके लिए कुछ करने को आतुर हो उठा। उसकी इच्छा होने लगी कि वह शान्ति को और अधिक सुखी देखे, खूब सुखी देखे लेकिन शान्ति कुछ कहे तो। वह तो बस मुस्करा देती है, "भाईसाहब ! मुझे तो ऐसे ही ठीक लगता है।"

ईश्वर यद्यपि एक व्यापारिक फर्म में काम करता है परन्तु उसका सार्वजनिक जीवन अद्भुत है। वह शिखर तक के सरकारी अफसरों को जानता है। वह मंत्रियों और उनके सचिवों से परिचित है। वह व्यापारियों, सेठों, वकीलों और जजों का मित्र है। वह साहसी है, हर क्षण किसीके लिए कुछ करने को आतुर रहता है। यहांतक कि कन्याओं के लिए वर और

वरों के लिए कन्याएं भी वह ढूंढ़ता है। एक दिन उसने पत्नी से कहा, "इस शान्ति को समझाओ न ? क्यों प्राण देती है । इसे तो अब भी अच्छा वर मिल सकता है।"

पत्नी पास खिसककर धीरे-से बोली, "कहीं उससे ऐसी बात न कह बैठना।"

"क्यों ?"

"क्यों क्या ? बस कहे देती हूं। बड़ी विचित्र औरत है। एक बार ऐसे ही मैं कह बैठी थी।"

"तो क्या कहा उसने।"

"कहने लगी—विनय की शादी कर लूं। पहले उसका घर बस जाय, फिर मैं अपनी शादी करूंगी। क्यों ठीक है न, भाभी ! और कहकर वह खूब हँसी। वह हँसी मेरे कलेजे में ऐसे खुब गई जैसे किसीने कील ठोक दी हो।"

तब कई क्षण ईश्वर हत्बुद्धि-हत्प्रभ शून्य में ताकता रहा था। कितने अमित विश्वास से भरी है यह नारी। पीड़ा तोड़ती भी है, जोड़ती भी है। शान्ति को उसने जोड़ा ही है पर अब जब वह बीमार पड़ी है। बुखार पीछा ही नहीं छोड़ता तो क्या उसे उसी तरह हठ करनी चाहिए। नहीं, नहीं, यह आत्महत्या है, पाप है, आत्महत्या पाप ही तो है...।

कई दिन बाद उसकी पत्नी घबराई हुई आई बोली, "शान्ति की हालत काफी खराब है।"

"हालत काफी खराब है ! किसकी, शान्ति की ? क्या वह जिन्दा है ?"

"गुस्सा मत करो। वह बचेगी नहीं। देख लेना।"

"तो मैं क्या करूं। मैं सबके लिए कुछ-न-कुछ कर सकता हूं पर उसके लिए कुछ नहीं कर सकता।"

पत्नी ने लम्बी सांस लेकर करुण कण्ठ से कहा :

"विचित्र औरत है। एक महीने से घर में पड़ी है पर मजाल कि एक-

बार भी चिन्ता की एक रेखा उसके चेहरे पर उभरी हो। उसी तरह मुस्कराती है। मैंने कहा, "शान्ति ! क्यों मौत को बुला रही हो।" बोली, "मौत कभी बुलाने पर नहीं आती। अपने वक्त पर आती है।" मैंने कहा, "अपनी नहीं तो विनय की चिन्ता तो करो।" बोली, "जबतक जीती हूं उसीकी चिन्ता तो है।" मैंने कहा, "उनकी बात क्यों नहीं मान लेती। तुम्हारे लिए बहुतकुछ करा सकते हैं।" बोली, "जो सबको सुलभ नहीं वह दुलर्भ मुझे क्यों मिले और मुझे जो मिला है वह क्या कम है। तुम लोगों का स्नेह...।"

यह सब सुनकर ईश्वर एकाएक धक-से रह गया। फिर तुरन्त ही तेज होकर बोला, "यह आदर्शवाद है और आदर्शवाद है फांसी। मैं ठीक कहता हूं, आदर्शवाद फांसी है, फांसी !"

और फिर उसी तेजी में वह बाहर निकला चला गया। शाम को उसे किसीके काम से बाहर जाना था। पांच दिन लग गये। और भी लग सकते थे पर पत्नी का पत्र पाकर वह तुरन्त लौट आया। उसमें लिखा था—शान्ति अब-तब की है।

वह निश्चय करके आया था कि वह किसीकी नहीं सुनेगा और शान्ति को किसी बड़े डाक्टर को दिखायगा और जब घर पहुंचने पर पत्नी ने अवरुद्ध कण्ठ से बताया कि वीनू की दादी बड़े डाक्टर के पास गई थी पर वह नहीं आया तो वह तड़प उठा, "ऐसे कैसे आ सकता था। कहनेवाला कौन था। उन बेचारों को इतनी फुरसत कहां है कि हर किसीके घर जाते रहें। हां, अब मैं जाता हूं, देखना। कैसे नहीं आयेगा। मैं शहर के सभी डाक्टरों को इकट्ठा किये देता हूं।"

और कहते-कहते ईश्वर तुरन्त बाहर जाने को मुड़ा कि तभी उसने देखा—दीपू भागा आ रहा है। पीछे-पीछे वीनू है। दीपू ने उसके बिल्कुल सामने रुककर बुरी तरह हांफते हुए कहा, "पिताजी, चिट्ठी लिख दीजिये।"

ईश्वर हठात चौंका, "किसके लिए ?"

"बुआजी के लिए।"

उसी तरह हांफता हुआ वीनू बोला, "मामाजी, जल्दी लिखिये। मां बोलती ही नहीं।"

"हां पिताजी, अब वह मना नहीं करेगी। दादी रो रही है तो भी वह नहीं बोलती।"

"दादी कहती है, अब तो यमराज ही मेरी मां को अच्छा कर सकते हैं।"

"हां पिताजी, आप यमराज को लिख दें कि वह बुआजी को अच्छा कर दे।"

"और, मामाजी, उनका पता भी बता दें। मैं अपने-आप चिट्ठी लेकर जाऊंगा। मैं जा सकता हूं।"

"पिताजी हम दोनों जायंगे। पर आप खड़े क्यों हैं, लिखो न, लिखो, पिताजी! जल्दी लिखो...। आप तो खड़े हैं, पिताजी। पि··ता··जी··"

एक मां, एक देश

केवल कुछ महीने पुरानी बात है, पर जैसे सदियां बीत गई हों, जैसे असंख्य वर्षों की सीमा पार कर वह बात बहुत धीमा, अति-धीमा स्वर लिये कान में गुनगुना गई हो, "अरी पगली ! कितनी बार कहा, इन बच्चों पर मत चिल्लाया कर। इन्हें हर वक्त मत झिड़काकर। कौन जाने बड़े होकर ये क्या हों ? देशबन्धु, गांधी, रामकृष्ण, विवेकानन्द ये सब इस धरती पर, मां का पेट चीरकर ही तो निकले थे। कौन जाने उन्हींकी तरह हमारे बच्चे भी...?"

तब वह चूल्हे पर रखे भात को करछी से हिलाकर देख रही थी और आंगन में तीन वर्ष की लावण्य दुधमुंहे चितरंजन को पटककर 'भूख लगी है' ऐसा कहकर रोने लगी थी। बालक गला फाड़कर चीख उठा। मृणाल के तन-बदन में आग लग गई। क्रुद्ध, पसीने से तर चिल्ला उठी, "राक्षसों ने जान खा डाली ! मौत भी तो नहीं आती इन्हें। कुएं से पेट में सब समा जाता है, कभी आग नहीं बुझती। मुझे क्यों नहीं खा डालते, ना बाबा ! ऐसी भी राक्षसी भूख क्या ? अभागे, भाग्य भी ऐसा लेकर आये हैं, देश में अन्न का दाना भी नहीं मिल रहा है...।"

तभी बाहर से आ गये नलिनबाबू। बगल में छाता था, हाथों में तरकारी और दो आम। कोलाहल देखकर क्रोध नहीं आया, बल्कि मुस्कराकर लावण्य को गोद में उठा लिया, चितरंजन को पुचकारा, "अरे, अरे, इतना भी रोते हैं क्या ? अभी चुप हो जाओ, देखो ! क्या लाया हूं ? आम। आम खाओगे ? हां, हां ! तुम भी खाओगे ! अच्छा, लावण्य ! छुरी तो ले आना जरा।"

लावण्य का रोना तो बाबू के हाथ में आम देखकर ही रुक गया था, पर बालक चितरंजन रोये जा रहा था। उसे उठाकर दोनों हाथों के झूले में झुलाना शुरू किया और साथ ही गुनगुनाने लगे, "सो जा, सो जा, राज-दुलारे।" और फिर पत्नी के पास आकर कहा, "सुनती हो, बच्चे का पालना बड़ा कठिन है। तभी तो इतना बड़ा, नर-नारियों का देश गुलाम पड़ा है। बचपन में ही सबकी आत्मा कुचल दी जाती है। कोई समझता ही नहीं। तुम्हें कितनी बार समझाया, पर व्यर्थ।"

मृणाल बैठी थी, खड़ी हो गई, तबतक झुंझलाहट उसकी दूर हो चुकी थी। वह लज्जित सी बोली, "कोशिश तो करती हूं पर कैसे करूं ? कभी-कभी जी दुखी हो उठता है।"

"हां, हां," नलिन ने कहा और हँसे, "सो तो जानता हूं, मृणाल ! पर सोचो तो एक दिन, बहुत दिन बाद, हमारा चितरंजन बंगाल का दूसरा देश-बन्धु हो तो कितना अच्छा हो ?"

मृणाल मुस्कराई और बोली, "बहुत बड़े घर में जन्म लिया था उन्होंने। इनके ऐसे भाग्य कहां ?"

"बड़े-छोटे घर से क्या होता है, पगली," नलिन ने कहा, "होता है शिक्षा और लालन-पालन से। प्यार से समझाना एक बात है। लात, घूंसे या लकड़ी का चैला उठाकर मार देना दूसरी बात है।"

मृणाल इस बार खिलखिला पड़ी। चितरंजन को गोद में ले लिया और छाती उसके मुंह में देती हुई बोली, "नहीं, नहीं, मैं कभी नहीं मारूंगी इन्हें। धमकाऊंगी भी नहीं।"

और आज उसी घर में बैठी-बैठी मृणाल उन बातों को सोचती है और सुबक-सुबककर, हिचकी बांधकर रोती है। रोने का कारण है। बीते कल की सन्ध्या ने उसके जीवन की दशा एकदम पलट दी। उसे आसमान से जमीन पर ला पटका। नलिन, जो महाकाल और महायुद्ध की विपदा का मारा एक माह से ज्वर में पड़ा था सदा के लिए उन्हें छोड़कर चला गया।

"सुनती हो," उसने मरते-मरते, कहा था, "मैं जा रहा हूं। इस महा-

काल से अपनेको बचा न सका, पर कहता हूं तुम अपनेको बचाना। अपने लिए नहीं, अपने बच्चों के लिए।"

मृणाल सुबक-सुबककर रोई,बोल न निकला। केवल हाथ छाती पर रख दिया। धीमे-धीमे अटक-अटककर नलिन फिर बोला, "रोती है ? ठीक है, रोने का अवसर तो है पर समझ ले हमारे ऊपर एक जिम्मेदारी है। उसे तो निभाना ही है। देश के दो बच्चे हमें पालने हैं। यह लड़ाई, यह महामारी अब खत्म होने को है। बंगाल की स्वर्णभूमि अब फिर सोना उगलेगी। मेरी बदकिस्मती ! मैं यह सब न देख सकूंगा पर तू देखेगी। इसलिए रो मत। सबर कर अपने शरीर को देख, उसे छीजने मत देना। नहीं तो, नहीं तो चितरंजन भूखा ही...।"

आगे उससे बोला नहीं गया। गला रुंधने लगा। सिर एक ओर को लुढ़क गया। आंखें खुली-की-खुली रह गईं। उसने हिचकी ली, अन्तिम हिचकी...मृणाल ने देखा तो एकदम चीत्कार कर उठी, "हाय स्वामी ! तुम कहां चले ? बोलो तो ! मैं अब क्या करूंगी ? हाय..."

लेकिन उससे रोया भी नहीं गया। बेहोश होकर एक ओर लुढ़कनेवाली थी कि पड़ोस की एक लड़की वहां आ गई, "भाभी, भाभी ! क्या हुआ जी ?"

उसने देखा चीत्कार एकदम बन्द है। नलिन खाट पर लुढ़का पड़ा है, मृणाल जमीन पर। लड़की एकदम घबरा गई, "भइया ! छोटे भइया ! भाभी-भाभी ! क्या हुआ जी ?"

लेकिन कोई नहीं बोला। दौड़ी-दौड़ी बाहर गई। जरा-सी देर में पांच-सात नर-नारी आये। सिर हिला-हिलाकर उन्होंने कहा, "नलिन के प्राण मुक्त हो गये जीर्ण कंकाल में कोई चेतना नहीं है !"

"और भाभी...?"

"मूर्छा है।"

और वे सब काठ के ठूंठ की तरह निश्चल खड़े-खड़े एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। तभी दोनों बच्चों को थामे एक प्रौढ़ा ने वहां प्रवेश किया।

अंधेरा बढ़ा आ रहा था। उसने जो यह दृश्य देखा तो घबरा गई, "मृणाल, बहू।"

"मूर्च्छित है।"

"नलिन ?"

"...।"

"बोल रे ! नलिन को क्या हुआ ? नलिन, छोटे भइया...।"

"भूख उसे खा गई, दीदी।"

प्रौढ़ा की हठात् चीख निकल गई। पीछे दीवार न होती तो शायद वह धरती पर ढह पड़ती। उसके हाथ में तीन पुड़िया थीं, वे फर्श पर बिखर गईं। लावण्य मां के पास आकर रोने लगी। बालक भी 'मां' 'मां' करके मचल गया। युवती के उपचार और बच्चों के स्वर से जागरित होकर मृणाल उठ बैठी। आंखें फाड़-फाड़कर उसने सबको देखा। फिर सहसा बांध टूट गया, "दीदी, दीदी, बताओ तो कहां गये तुम्हारे छोटे भइया ? कैसे होगा अब ? मैं कहां जाऊंगी ? यह महाकाल, यह महायुद्ध, क्या ये कभी समाप्त नहीं होंगे क्या ?"

लेकिन उसके प्रश्नों का जवाब कौन देता, और क्या देता ? सभी तो एक गहरे अवसाद, एक गहरी भूख से भरे पड़े थे। उनकी सूरत मानवता का उपहास कर रही थी, लेकिन कुछ थे कि जिनकी समझ को भूख की दीमक चाट नहीं गई थी। वे बोले, "यह चीत्कार अब बन्द करो। कौन सुनेगा। उठो और शरीर की मुक्ति का प्रबन्ध करो।"

नलिन की आत्मा मुक्त हो चुकी थी, अब शरीर भी शून्य में विलीन हो गया, लेकिन उसकी याद, उसकी बातें, उसका काम, इन सबको शून्य भी नहीं लील सका। मृणाल का कंकाल जिन्दा है। हत-भागिनी लावण्य मांड पी-पीकर जिये जा रही है। छाती का मांस चाब-चाबकर चितरंजन भी आयु बढ़ाये जा रहा है यद्यपि पतझड़ की शाखा की तरह उसका सुन्दर मुखड़ा कांतिहीन हो गया है।

"ये मर क्यों नहीं जाते"——मृणाल कई बार दुखी होकर सोच बैठती

है और सोचकर कांपने लगती है। कोई चुपके-से कान में कह जाता है, "कौन जाने बड़े होकर ये महापुरुष हों ? इनके नाम की जय बोली जाय।"

यही सोचकर एक दिन उसने दीदी से कहा, "दीदी ! तुम्हारे छोटे भइया ने अपने बच्चों के लिए प्राण तज दिये।"

दीदी बोली, "बच्चों के लिए सारी दुनिया जीती और मरती है।"

"...न-न दीदी ! यह बात नहीं। वह कहते रहे, ये क्या हमारे बच्चे हैं। देश की धरोहर हैं और धरोहर का मान प्राण से ज्यादा होता है। दई-मारे अकाल ने सोने के देश को राख बना दिया। कहते थे कि हमारे देश-वाले हैं, जो मुख का ग्रास छीनकर तिजोरी में बन्द कर रहे हैं। सच, क्या वे सोना खाते हैं। वह भी एक दिन मिट्टी बनेगा, पर तबतक सारे-का-सारा देश मिट्टी बन चुकेगा।"

दार्शनिक-सी दीदी बोली, "अरी पगली मिट्टी का खेल ही है यह सब !"

"जानती हूं, दीदी ! मिट्टी का खेल है सब। मिट्टी का घर है, मिट्टी से ही अन्न उपजता है। पर दीदी, उस मिट्टी का सोना बनाकर क्या जीना हो सकेगा।"

दीदी प्रभावित हुई। बोली, "तू ठीक कहती है, इसी सोने ने मौत को बुलाया है। हाय, किस तरह धरती लाशों से पटती जा रही है। जो जिन्दा हैं वे शहर भागे जा रहे हैं।"

मृणाल चौंकी, "शहर ?"

"हां, कहते हैं वहां भूख नहीं है। सबको खाने को मिलता है।"

मृणाल की आंखें चमकीं, "सच, क्या दीदी, शहर में खाने को मिलता है ?"

"हां ! सब यही कहते हैं। खैरात बंटती है वहां ? झुण्ड-के-झुण्ड लोग घर-बार छोड़कर भागे जा रहे हैं, पर सब क्या वहां पहुंचते होंगे। कंकाल भी अच्छे होते हैं। देखकर डर लगता है जैसे दीमक चाट गई हो। हाय, न जाने किस जन्म के पाप उदय हुए हैं इस देश में।"

मृणाल ने कहा, "दीदी ! पाप की कौन जाने। पर यह भी भूख क्या परमात्मा ने भेजी है। आदमी आदमी को खाता है पर दीदी...।"

"कहती-कहती, हिचक गई। दीदी ने देखा, "कंकाल से उसकी हालत अच्छी नहीं है। पर न जाने कौन आशा प्राण अटकाये है। बोली, "कहती-कहती रुक क्यों गई।"

"कहती थी, मैं भी शहर जाऊं। चितरंजन को देखो सूखता जा रहा है। बड़ी आशा थी इसपर उनकी, इसे तो जिलाना ही होगा।"

दीदी ने उसे फिर देखा, "तू चली जायगी अकेली।"

मृणाल बोली, "क्यों न जाऊंगी, दीदी ! सभी तो जा रहे हैं। लावण्य को तुम रख लेना। कुछ दिन बाद लौट आऊंगी।"

"लेकिन मृणाल ! शहर क्या पास है। सब तो पहुंच भी नहीं पाते। रास्ते में कहते हैं लाशों के ढेर पड़े हैं और फिर तू स्त्री है, अकेली है।"

मृणाल एक जीर्ण हँसी हँसी, जिसने उसके रूखे मुख को और भी दयनीय बना दिया। बोली, "स्त्री हूं तो क्या ? अब मुझमें है ही क्या जो कोई मांगेगा। इसीके लिए दो कौर मुंह में दे लेती हूं। तुम्हारे छोटे भइया कहते रहे—तू न खायेगी तो चितरंजन को क्या दूध मिलेगा ? कितनी बेकल होती हैं स्त्रियां, दीदी ? अपने लिए वे कुछ भी नहीं कर सकतीं। खायेंगी सन्तान के लिए, पहनेंगी स्वामी के लिए, इसीलिए चितरंजन के लिए शहर जाऊंगी। वह जियेगा, देश का भला होगा, उनकी आत्मा प्रसन्न होगी।"

और कहते-कहते मृणाल इतनी प्रसन्नता से उमड़ी कि दीदी अचरज से उसे देखती रह गई। मना करने का साहस भी नहीं रहा और मना करती भी किस बूते पर। गांव में अन्न का दाना भी नहीं था। बोली, "तो तू जायगी ? अच्छा। पर एक बात है, संभलकर जाना, शहर का नाम बुरा है। न जाने क्या-क्या है वहां, घोड़ा-गाड़ी, बिजली-गाड़ी, फौज-गाड़ी और आदमी ही क्या थोड़े हैं। दम घोटनेवाली हवा है और भूखे वे भी हैं, खाने की भूख नहीं है, तो अस्मत की भूख है। मां-बहन शहर में किसीके नहीं

होती।"

... ...

मृणाल शहर आ गई। किस तरह आई यह वह स्वयं नहीं जानती, केवल आशा उसे खींच लाई। मौत ने पुकारा, शैतान ने पुकारा, दिल के चोर ने पुकारा पर इस अमर आशा की पुकार के सामने सब पुकारें व्यर्थ हो गईं। लेकिन जिस आशा का सहारा लेकर वह मुसीबत का समन्दर लील गई, वह कोरी मृगतृष्णा निकली। एक जून पेट की खिचड़ी के लिए उसे जो युद्ध करना पड़ा, उसने मृणाल की कमर तोड़ दी। शहर के दृश्य देखकर उसका बोल बन्द हो गया। वह चुपचाप आंखें फाड़े शून्य में ताकती रहती है। चितरंजन गोद में पड़ा छातियां चिचोड़ता रहता है। कभी होता है तो अलग अकेले में बुक्का फाड़कर रो उठती है। कभी गिड़गिड़ाती है, पर गिड़गिड़ाना उसने सीखा हो तो बात बने। लेकिन फिर भी उस रक्त-हीन रूखे मुखड़े पर कभी किसीकी याद आ जाती है तो...।

चुपके-से एक दिन एक भद्र पुरुष उसके पास आकर बोले, "भूखी हो?"

मृणाल की आशा जगी, बोली, "मेरी चिन्ता नहीं पर इस बच्चे को दूध मिल सके तो...।"

"हां, हां," भद्र पुरुष बोले, "इसे दूध मिलेगा, तुम्हें भात मिलेगा।"

"ओह," मृणाल गद्गद हुई, "कैसे-कैसे पुण्यात्मा हैं, अभी इस देश में?"

वह कहते रहे, "मेरे साथ चलो, तुम्हें कपड़े मिलेंगे। मेरे देश की युवतियों को क्या इस प्रकार रहना सोहता है और फिर तुम तो...।"

अचानक मृणाल का पांव जैसे अंगार पर पड़ा, "ओ दइया।"

"चलो।"

मृणाल ने चितरंजन को जोर से दबा लिया। उसका हृदय कांपने लगा।

"चलती नहीं?"

"नहीं।"

"नहीं ?"

"नहीं, नहीं, नहीं। पापी पेट की ज्वाला में झुलसती हुई नारी से तुम उसकी इज्जत भी मांग लेना चाहते हो। सबकुछ तो तुमने ले लिया, अब क्या इतना भी रखने का अधिकार तुम्हें खलता है।"

भद्र पुरुष में लज्जा कहां थी, वीभत्स हँसी हँसकर कहा, "जान पड़ता है अभी नई आई हो। पगली, इसीके सहारे आज सैकड़ों घरों का खर्च चलता है। जीने के लिए ऐसा करना पाप नहीं है।"

"आग क्यों नहीं लग जाती ऐसे जीने को। कलंक को माथे पर सजाकर कोई आंखें कैसे खुली रखता है। मुझे नहीं चाहिए तुम्हारा भात, तुम्हारा दूध। मैं हाथ जोड़ती हूं, तुम मुझे छोड़ दो...।"

कहती-कहती मृणाल रो उठी। भद्र पुरुष फिर हँसे। भवें चढ़ाकर हाथों को शून्य में हिलाया। फिर शैतानी मुस्कराहट से बोले, "आती लक्ष्मी को ठुकराने का जो परिणाम होता है, वह मैं समझता हूं, तुम जानती हो पर अगर कभी आवश्यकता हो तो मैं क्रुद्ध नहीं होऊंगा। मैं सदा तुम्हारी सहायता करने को तैयार हूं।"

और वह चले गये। मृणाल के प्राण लौटे मानो आज भरपेट भोजन मिला। उसने एकदम निश्चय किया कि वह अब अपने घर लौट जाय, जरूर लौट जाय, किसी भी शर्त पर, एक भी क्षण, वह शहर में नहीं रहेगी। हाय रे ! मानव के रूप में कैसे शैतान यहां बसते हैं ? खून चूस-चूसकर लाल हुए दानव अब हमारा एकमात्र संबल भी फुसलाकर छीन लेना चाहते हैं। इसीलिए तो भूख इन्होंने गांव-गांव फैला रखी है, इसीलिए तो ये मछली पकड़ने के कांटे की तरह आशा की डोर हिलाते रहते हैं। हाय रे भाग्य। क्या सच भगवान हैं। क्या सच ऊपर की दुनिया है ?...नहीं, नहीं, यह सब इसी शैतान की माया है, नहीं तो क्या श्मशान में भी मानव को प्रणय की सूझती है...।

मृणाल के भीतर का दबा विद्रोह जाग उठा। नारी की समस्त कोमलता

जलकर कोयला हो गई। बस उसमें चिन्गारी लगने की देर है कि वह जल उठेगी और ध्वंस कर देगी सब विघ्नजाल, लेकिन...लेकिन गोद में चितरंजन है। चितरंजन...। हां, वह देश की धरोहर है, स्वामी की स्मृति...लेकिन नहीं ! देश इस योग्य नहीं है कि वह जिये, महान बने।...कहां हैं देश के वे बड़े आदमी जिनकी चर्चा करते कभी नहीं अघाते थे। जिनके सुन्दर-सुन्दर चित्र उन्होंने कमरे में सजाये हैं। उन्हें देखकर वे कहते—मृणाल ! ये हैं स्वामी विवेकानन्द। अपनी बंग-भूमि के लाल। कैसे तेजस्वी हैं ? अमरीका में इन्होंने हिन्दू-धर्म का नाद गुंजाया था। इन्होंने मानव-मानव के बीच की खाई को पाटने का अनथक प्रयत्न किया था। ये रामकृष्ण हैं इनके गुरु, निर्माता ! ये कवि ठाकुर हैं, देश, मुकुट-मणि। ये नेहरू हैं, ये चितरंजन हैं, ये गांधी...न जाने उसे क्या याद आने लगा...हाय, कहां हैं ये महामानव, क्यों नहीं ये देश को बचाते। गांधी और नेहरू तो अब भी हमारे बीच हैं। वे क्यों नहीं अपना स्वर ऊंचा करते। वे क्यों नहीं यहां आकर देखते कि मानव मानव के रक्त-मांस को खाकर ही सन्तुष्ट नहीं है, वह उसकी आत्मा पर भी कलंक लगाना चाहता है...।

उसने बहुत-कुछ सोचा। उसके स्वामी ने जो कुछ समझाया था, सुझाया था वह अब इस बेबस शिकंजे में फंसी तड़फड़ाती नारीको रह-रहकर याद आने लगा। याद ही नहीं, उसमें तेज फूटने लगा, वह तेज जो मृत्यु को चुनौती देता पर चुनौती के सामने चितरंजन है जो सारे विद्रोह को, सारे तेज़ को लील जाता है। वह रो पड़ती है, "हाय स्वामी। स्वर्ग में, नरक में, जहां भी तुम हो, देख रहे हो। मुझे बताओ मैं क्या करूं ? तुम मुझे मरने नहीं देते, दुनिया जीने नहीं देती। तुम कहते हो यह देश का धन है, पर देश तो अपने धन को पैरों से रौंद रहा है। उसे तो सोना प्रिय है...। लेकिन इसे तो बचाना ही होगा। कैसे...कैसे बचाना होगा ? गांव में सर्वभक्षी मौत फैली है। इसे छोड़ेगी नहीं...

और वह फूट-फूटकर रोने लगी। पर रोते-रोते जैसे उसे कुछ सुझाई पड़ा। सागर की अथाह तरंगों में थपेड़े खाते-खाते जैसे उसने उड़ते पक्षी को देखा। उसने ज़ोर-से बच्चे को छाती में भर लिया और फिर चूमते-चूमते

पागल होने लगी, "हाय मेरे लाल। तू इतना सुन्दर क्यों है ? तू इतना प्यारा क्यों है ?"

और इसी प्रकार विचारों के जाल-जाल में फंसी वह भूखों के बीच में जाकर पड़ रही। इन आर्तनादों के बीच प्रकृति का नियम उसी तरह चलता रहा। वही अंधेरा, वही चांदनी, वही गर्मी, वही वर्षा। वही चिड़ियों की चहचहाट, कुत्तों की भों-भों। आसमान का नीलापन, सूर्य का उत्थान और पतन। मृणाल जहां सोई थी, वहां भी रात के बाद दिन उगा। चहल-पहल जागी, आवागमन शुरू हुआ। अनगिनत भूखों का रोना चारों तरफ व्याप्त हो गया। जो मरणासन्न थे, वे आर्तनाद कर उठे, जो मुक्त हुए उनकी आत्माएं आसमान में मंडराने लगीं, लेकिन वीभत्सता से दूर एक ऊंचे मकान के पीछे कुछ विशेष चहल-पहल मची। देखने-देखते एक छोटी-सी भीड़ इकट्ठी हो गई।

"क्या है रे, क्या है यहां,"—एक स्वर उठा।

"बच्चा।"

"बच्चा, किसका बच्चा ?"

"बाबा, एक बच्चा है, अकेला पड़ा है धरती पर।"

"कौन डाल गया, देखा किसीको ?"

"नहीं।"

"ओ कितना सुन्दर है पर कितना दुर्बल।"

"ओरे रे। रोता है," वृद्ध पुरुष आगे बढ़ आये, "ढूंढों रे किसका है ?" किसीने कहा, "किसी भूखे का होगा।"

"ना, ना," बाबा बोले, "भिखारी क्या खाकर ऐसा बच्चा पायेगा।

"सोने की प्रतिमा है।"

तभी भीड़ को चीरते हुए एक भद्र पुरुष आगे आये। वह ऊंचे मकान के स्वामी थे। उनके साथ दो नारियां थीं, एक युवती दूसरी प्रौढ़ा-सी।

प्रौढ़ा ने आगे बढ़कर कहा, "कहां है रे वह बच्चा, देखूं।"

युवती देखकर बोली, "दइया रे, कैसे रोता है यह ?"

"किसका है ?" प्रौढ़ा कातर-सी बोली।

युवती ने उसे गोद में चिपका लिया। शिशु को न जाने क्या मिला, वह एकदम चुप हो गया और मुंह फाड़-फाड़कर छाती में मारने लगा। युवती करुणार्द्र होकर बोली, "भूखा है, दीदी। मां का दूध मांगता है।"

"तो ले चल, घर ले चल, शोभा," प्रौढ़ा बोली और मुड़कर पुरुष से कहा, "ढूंढो जी किसका बच्चा है ? मां होगी तो कलेजा फटता होगा। गोदी खाली होने पर भी मेरा जी बैठा जाता है।"

लेकिन वे भीड़ को चीरकर निकलें कि कोलाहल मचा—"देखो-देखो वह कौन है ?"

"कौन है, कौन है जी...वह स्त्री...पगली लगती है वह तो..."

वह पगली दौड़ी-दौड़ी वहीं आई। अरे, वह तो मृणाल थी। सूखे बिखरे बाल, फीका मुख, सजल नयन, दयार्द्र वाणी, "अरे ठहरो, बच्चा मेरा है, मैं मां हूं, मैं उसकी मां हूं..."

कहते-कहते उसने बच्चे को युवती की गोद से झपट लिया और छाती में इस तरह दबोचा जैसे उसे कोई छीने ले जा रहा हो और फिर तीर की तरह उसी ओर, जिधर से आई थी, चली गई।

अचकचाकर प्रौढ़ा बोली, "बच्चा इसीका है पर यह है कौन ?"

युवती की आंखें भर आई थीं, वह बोल न सकी, केवल देखती रही। भीड़ कौतूहल से चर्चा करती फटने लगी। प्रौढ़ा फिर भद्र पुरुष को संबोधित कर बोली, "अजी इसका पता तो लगाना, यह है कौन ?"

भद्र पुरुष ने धीरे-से कहा, "किस-किस का पता लगायेगी, सरोजिनी, आज बंग-भूमि का रोम-रोम पीड़ित है, मानवता नष्ट हो चुकी है, प्रलय की भूमिका बंध रही है। कौन बचेगा और किसको बचायेगा ? आओ चलो, फिर भी इसे देखूंगा।"

भीड़ के लोग चले गये थे। ये तीनों भी आश्चर्य और करुणा से दबे-दबे घर की ओर लौटे कि युवती चौंक पड़ी, "वह फिर आ रही है।"

प्रौढ़ा मुड़ी, "आ रही है।"

"हां, दीदी, देखो। वह फिर आ रही है।"

और सच ही मृणाल फिर पागलों की तरह लौट आई। आते ही उस बच्चे को प्रौढ़ा के सामने धरती पर लिटा दिया। बोली, "मेरी भूल थी। मैं इसे पाल न सकूंगी। इसे तुम ही पाल सकती हो, यह तुम्हारा बच्चा है। देश का बच्चा है...।"

और इतना कहकर वह पागलों की तरह लड़खड़ाती हुई, मकान, सड़क, बगीचा सबको चीरती हुई दूर, भिखारियों के बड़े झुण्ड में अंतर्धान हो गई। यह सब इतनी शीघ्रता से, इतने रहस्यमय वातावरण में हुआ कि वे तीनों हक्के-बक्के रह गये। बालक जब रोया, तभी उनकी नींद खुली। प्रौढ़ा ने लपककर उसे गोद में चिपका लिया और बोली, "शोभना! मैं सच कहती हूं, यह बच्चा उसका नहीं है। कभी नहीं है।"

●

वापसी

रामसिंह ऊपर से बिल्कुल शान्त था पर भीतर एक भयंकर तूफान झकझोर रहा था। बार-बार होंठ भींचकर उसे भीतर ही रखने की कोशिश की पर शीघ्र ही उसे आत्म-समर्पण कर देना पड़ा। वह चुपचाप अपने व्यतीत को देखने लगा।

उसके पिता का देहान्त बारह वर्ष पूर्व सर्दियों में हुआ था। उसके पास न तो तन ढकने को कपड़े थे और न पेट भरने को अन्न। इसलिए सर्दी उसे खा गई। उसे याद है कि उसके पिता कई दिन तक खाट पर पड़े रहे थे। उसकी मां बाउली-सी कभी बाहर वैद्य के पास भागती, कभी खाट के पास बैठकर बापू को सहलाती, कभी अकेले में उसे कलेजे से लगाकर फूट-फूट-कर रोती···परन्तु इस सबके बावजूद पिता की कराहट बढ़ती ही गई। और फिर एक दिन सहसा बिल्कुल बन्द हो गई। बापू शान्त हो गये और मां चीत्कार कर उठी।

लेकिन उसे रोना नहीं आया, उसे तो बस एक प्रश्न परेशान करने लगा—आखिर पिता कहां गये? लोग कहते हैं, भगवान उन्हें ले गये। क्यों ले गये? भगवान की तो सब तारीफ करते हैं। फिर उन्होंने मां को क्यों रुलाया। क्यों मां रोती रहती है। क्यों उसे रोना नहीं आता? क्यों उसकी शरारत कम हो रही है? क्यों···

ये समझ में न आनेवाली बातें उसे और भी उलझा देतीं। वह और भी गम्भीर हो उठता। गम्भीर होने के और भी कारण थे। उनमें उसके चाचा भी थे। उसने सुना था कि उसके इन चाचा और पिता में कुछ झगड़ा था। चाचा निरे किसान नहीं थे। कुछ बणिज-बट्टा भी करते थे। सो उस बंजर

भूमि में भी पक्का मकान बनाकर रहते थे पर पिता की बीमारी में वह उसी दिन आये जिस दिन लाश उठी थी। हां, कुछ महीने बाद जब उसकी मां रोना-धोना छोड़कर पेट पालने की फिक्र में लगी तो उसने पाया कि वही चाचा बार-बार घर आते हैं और मां से बातें करने की कोशिश करते हैं। मां है कि उन्हें झिड़क देती है, लड़ पड़ती है पर चाचा हैं कि आये जाते हैं, आये जाते हैं। और लोग भी आते हैं और उससे लुका-छिपी करके उसकी मां से बातें करते हैं। महीनों करते रहे और धीरे-धीरे उसकी मां उससे दूर होती रही, होती रही।

रामसिंह चौंक पड़ा। उसने आंखें खोलकर चारों ओर देखा। कहीं कोई नहीं है। उस अनजान प्रदेश में वह निपट अकेला धर्मशाला की एक कोठरी में पड़ा है। आसपास घोर अन्धकार है। बाहर अन्धकार है, अन्तर में अन्धकार है। उसी अन्धकार में मां की मूर्ति नेत्रों में उभर उठी है। वह मां जिससे लड़-झगड़कर वह आठ वर्ष पूर्व भागा था। वही मां उसे प्यार से छाती में भर लेती है और कहती है, "तू इतना क्यों सोचना है, रे रामू ! सोचने से आदमी दुबला हो जाता है। देख न तेरे हाथ-पैर दुबले होते जा रहे हैं ..।"

रामू चुपचाप उसकी छाती की धड़कन महसूस करता रहा, उसकी सूखी आंखों में उमड़ते स्नेह को देखता रहा, उसकी प्यारभरी बातों को सुनता रहा। उन्हीं बातों के अन्त में उसने अटकते-अटकते कहा, "'क्यों रे रामू ! तू चाचा के घर चलेगा।"

रामू समझा नहीं। मां ने फिर प्यार से समझाया, "अरे, वही अपने चाचा ! उनके घर चलेगा ?"

"अपने चाचा के घर।"

"हां," मां ने हकलाते हुए कहा, "अब हम वहीं रहेंगे।"

एकाएक न जाने क्या हुआ उसने तड़पकर कहा, "नहीं, मैं नहीं जाऊंगा !"

उसकी यह तेजी देखकर मां हतप्रभ रह गई। इतनी कि वह उसकी

गोद से निकलकर दूर जा खड़ा हुआ तो उसने उसे रोकने का ज़रा भी प्रयत्न नहीं किया। कर ही नहीं सकी। बस देर तक फटी-फटी आंखों से देखती रही, देखती रही। फिर जैसे उस लज्जा को धोने के लिए वह घर के कामों में खो गई। लेकिन रामू के मन से वह बात नहीं धुली। उसे बापू की याद आने लगी। उसके बापू उसे बहुत प्यार करते थे। उसे कन्धे पर बिठाकर नाचते थे। कहा करते थे, "रामू जब बड़ा होगा तो यहां रेत नहीं उड़ेगी, कहत नहीं पड़ेंगे। यहां नहर आ जायगी। खूब पानी होगा। खूब अनाज होगा। हम खूब मालामाल हो जायंगे..."

बापू की ये बातें याद करके रामू का दिल और भी दर्द से कराह उठा। वह समझ नहीं सका—मां चाचा के घर क्यों जा रही है? बापू नहीं रहे तो क्या हुआ? वह तो है। वह बड़ा हो रहा है। वह दूर तक भाग सकता है। वह हरि, रामजी, धन्ना सबको गिरा देता है।

और रामू को सचमुच विश्वास हो गया कि वह बड़ा हो रहा है। उसने मां के पास जाकर कहा, "मां, मैं बड़ा हो रहा हूं। यहां अब नहर आ जायगी। खूब पानी होगा। खूब अनाज होगा।'

वह उछल-उछलकर ये बातें कह रहा था जैसे वह सबकुछ हो ही रहा हो, जैसे वह नहर में कूद-कूदकर नहा रहा हो, जैसे वह अनाज के ढेर पर नाच रहा हो। मां ने एकाएक दृष्टि उठाकर उसे देखा। फिर एक-बारगी अपनी बांहों में भर लिया, बार-बार चूमने लगी, रोने लगी। रोते-रोते बोली, "तेरे बड़े होने में अभी बहुत देर है, मेरे बच्चे, अभी बहुत देर है। तबतक तो हम भूखे मर जायंगे। खत्म हो जायंगे।..."

रामू की समझ में कुछ नहीं आया। वह कुछ कर भी नहीं सका। मां एक दिन उसे लेकर चाचा के घर चली गई। उसे बहुत बुरा लगा। बहुत क्रोध आया। यहांतक कि उसने अपने चाचा को पीट तक दिया...

रामसिंह उठकर बैठ गया। उसका दिल तेजी से धड़क रहा था। उसे सांस लेने में कठिनाई हो रही थी। उसने पीछे की खिड़की खोल दी और उसके सामने जाकर खड़ा हो गया। सन-सन करती हुई ढेरों ठंडी हवा

कोठरी में भर ग्राई। उसके साथ तरह-तरह की ग्रावाजें भी वहां फैल गई पर उसके मस्तिष्क में जो व्यतीत घुसकर बैठ गया था वह नहीं निकला। वह स्पष्ट देख रहा था—उसने चाचा को पीटा। चाचा का मुख तमतमाया। फिर सन्ध्या के ग्राकाश की भांति उसके रंग पलटे। वह मुस्कराये। उन्होंने उसे प्यार किया। ज्वालामुखी के मुख पर पड़े बर्फ जैसा प्यार...

रामसिंह ने ग्रांखें बन्द कर ली लेकिन वहां मां बैठी हुई थी। उस मां ने रो-रोकर छाती से सटा-सटाकर उसे समझाया पर...पर मर्ज बढ़ता गया ज्यूं-ज्यूं दवा की। वह नये घर को, नये बापू को स्वीकार नहीं कर सका, नहीं कर सका। वह चिड़चिड़ा हो गया। वह लड़ने लगा, वह जवाब देने लगा, वह काम से भागने लगा। यह पिटने लगा। मां से भी पिटने लगा।

मां से भी···हां, मां की गोद में एक ग्रौर बालक ग्रा गया था। वह बालक उसे तनिक नहीं सुहाता था। वह उसे पीट देता था। वह उसे मिटा देना चाहता था...।

रामसिंह ने तेजी से गरदन को झटका दिया, इतनी तेजी से कि वह खिड़की के किवाड़ से टकरा गया। माथे पर रक्त चमक ग्राया पर उसकी चिन्ता किये बिना वह फुसफुसा उठा, "मैं उसे मिटा देना चाहता था। ग्रौर मां मुझे मारती थी। मां मुझसे दूर हो गई थी। मां मुझसे छिन गई थी। मां मुझसे छिन गई तो मैं वहां क्या करता। मैं भाग ग्राया। मैंने भागकर ठीक किया। मैंने ठोंकरें खाईं, मैं भूख से तड़पा, मैं जेल में रहा, सबकुछ हुग्रा, पर मैं जानता हूं मैंने घर छोड़कर ठीक ही किया। मेरे लिए घर परदेश सब बराबर थे। नहीं, परदेश ग्रच्छा था। परदेश में ग्रादमी ग्रकेला होता है। घर में मां के रहते भी मैं ग्रकेला था...।

रामसिंह फिर खाट पर ग्रा लेटा। धीरे-धीरे चोट सहलाने लगा, शान्त होने लगा। तभी सहसा उसने तकिये को टटोला। उसने महसूस किया कि छुरा ग्रपने स्थान पर है... छुरा... हां छुरा। तेज चमकदार लपलपाता हुग्रा छुरा। उस छुरे को वह खूब संभालकर ले जा रहा है। वह ग्रपने गांव जायगा, ग्राठ साल बाद ग्रपने गांव जायगा ग्रौर इस छुरे

से वह अपने चाचा को मार देगा। हां, चाचा को मार देगा। चाचा को, जिसने उसके सुख को छीना था, उसकी मां को छीना था, जिसके कारण मां के रहते भी वह अनाथ था, घर के रहते भी बेघर था, प्यार के रहते भी निरादृत था, भिखारी था, चोर था...।

उसने जोर से तकिये को छाती में भींच लिया। दांतों से होंठों को दबाकर उनमें खून निकाल लिया। इतना सब होने पर भी उसे मां की याद आती। बीमारी में उसे मां की याद आती। थककर चूर हो जाने पर खाना बनाते समय उसे मां की याद आती। साथियों की मांओं को देखकर उसे मां की याद आती। तब वह तड़पकर चिल्ला उठा, "मां, तू मर क्यों न गई ?"

वह अब भी चिल्ला उठा, "मां, तू मर क्यों न गई। मर क्यों न गई।"

... ...

इसी तरह विचारों में डूबते-उतराते उसके सफर का अन्त आ पहुंचा। रेल-मोटर, सबको उसने पीछे छोड़ दिया। गांव की अन्तिम मंजिल पर वह पैदल ही चल पड़ा। यह आठ वर्ष बाद इधर आया था। जाते समय यहां सब कुछ वीरान था। पेड़ों पर पत्ते नहीं थे। खेतों में फसल नहीं थी। बस रेत उड़ रही थी। सदा उड़ती रहती थी। धरती की छाती सदा फटी रहती थी और उन दरारों में गांव का सुख-स्वास्थ्य सब स्वाहा होता रहता था। लेकिन आज वह कहीं गलत रास्ते पर तो नहीं आ गया। क्योंकि ज्यूं-ज्यूं वह आगे बढ़ता है त्यूं-त्यूं उसका झुलसा हुआ मन-मस्तिष्क एक अजीब-सी महक से भरता जाता है। अनाज की महक, पानी की महक, सौंधी-सौंधी मिट्टी की महक...।

उसने आंखें मलीं। बार-बार मलीं। तब विश्व के रंगमंच पर संध्या धीरे-धीरे प्रवेश कर रही थी। उसकी लालिमा में स्नान करके सब कुछ रक्तिम हो उठा था। खेत धीरे-धीरे लहरा रहे थे। वृक्ष मन्द-मन्द गति से झूम रहे थे। दूर कहीं कोई मदभरे गीत गा रहा था। और यह डूबता-उतराता वहां पहुंचता जा रहा था जहां न उसका कड़वा व्यतीत था, न

झुलसा हुआ वर्तमान। बस एक अनिवर्चनीय आनन्द था। वह आनन्द जो थकान उतारता है। तन-मन सहलाता है।

उसने फिर आंखें खोलीं। मिट्टी और पानी की महक से उसका अस्तित्व तर हो रहा था। उसने अपने सामने ऊंची उठती हुई पगडंडी देखी। वह दौड़कर उसपर चढ़ गया। यह क्या पानी ...नहर...नहर... ।

यह एकाएक पीछे हट गया। हत्प्रभ-विमूढ़ चारों ओर ऊपर, नीचे, नहर को, अपने को सबको देखने लगा। क्या वह जीवित है? क्या वह इसी दुनिया में है? क्या यह नहर का पानी है? क्या यह किसी जादूगर का जादू है?

दो क्षण के मन्थन के बाद वह फिर आगे बढ़ा। धीरे-धीरे नीचे उतरा। आंखें मलीं, डरते-डरते पानी को छुआ। बिजली ने जैसे उसके बदन को झनझना दिया हो। पर उसने पानी को फिर छुआ, फिर-फिर छुआ, उछाला, चखा, बार-बार चखने लगा, उछालने लगा। और साथ-ही-साथ उसके कानों में एक स्वर गूंजने लगा, एक परिचित प्यार भरा स्वर, "रामू जब बड़ा होगा तो यहां रेत नहीं उड़ेगी। कहत नहीं पड़ेंगे। यहां नहर आ जायगी। खूब पानी होगा। खूब अनाज होगा। हम खूब मालामाल हो जायंगे...यहां नहर आ जायगी। खूब पानी होगा। खूब अनाज होगा···खूब अनाज होगा, खूब अनाज होगा···।"

उसका सिर घूमने लगा, शब्द घूमने लगे, वातावरण घूमने लगा, अन्तरिक्ष घूमने लगा। उसने चिल्लाकर कहा, "नहीं, नहीं, यह मृगजाल है। मेरे मस्तिष्क का भ्रम है, छल है। मैं चाचा को मारने आया हूं। मैं उसे मारूंगा। यह जादू मेरे संकल्प को भंग नहीं कर सकता। मैं उसके परिवार को दर-दर का भिखारी बनाऊंगा। मैं सबको भिखारी बनाऊंगा...।"

वह इसी तरह चीखता हुआ ऊपर भागा पर अचरज उसके शब्द आवाज पैदा नहीं कर रहे थे। वह कांप रहा था पर उसकी चाल बड़ी दृढ़ थी। वह सुनना नहीं चाहता था, पर वे शब्द बराबर उसके कानों में घुसते आ रहे थे, "तू बड़ा हो गया है। यहां रेत नहीं उड़ती। यहां नहर आ गई है···।"

उसने दोनों हाथों से कानों को दबा लिया। वह तेजी से सिर को घुमाने लगा। उसे लग रहा था जैसे वह संज्ञा खोता जा रहा है। उसके सामने न नहर है, न पानी। बस उसके पिता की मूर्ति है। इतनी विशाल कि उसने धरती और आसमान सबको ढक रखा है। उसके नेत्रों में स्वर्णिम भविष्य झांक रहा है। उसके एक हाथ में फावड़ा है, दूसरे में अन्न। उसके शरीर से शुभ्र श्वेत जल झर रहा है और उसीसे नहर भरती आ रही है, भरती आ रही है...

वह एकबारगी चिल्ला उठा, "बापू!"

और फिर संज्ञाहीन होकर वहीं गिर पड़ा। काफी देर पड़ा रहा। फिर उसे ऐसा लगा जैसे कहीं अमृत वर्षा हो रही है और वह भीग रहा है, उसका तन, मन, आत्मा सब भीग रहे हैं। उसका सन्ताप भीग रहा है। उसकी पीड़ा भीग रही है, उसका कलुष भीग रहा है...

उसने धीरे-धीरे आंखें खोलीं, बन्द कर लीं फिर खोलीं, फिर बन्द कर लीं। बहुत देर बन्द किये बैठा रहा। अन्धकार गहरा हो गया। आसमान में तारे दमक उठे। धरती पर रह-रहकर जुगनू टिमटिमाने लगे। दूर कभी-कभी नहर का कल-कल, छल-छल स्वर उठता और वहां फैल जाता। वह उठकर बैठ गया। वह कांप रहा था। उसका गांव पेड़ों के उस पार छिपा हुआ था। उसके मस्तिष्क में कुछ चित्र उभरने लगे। शायद सब लोग सो गये होंगे। शायद मर्द अभी बैठे हुक्का पी रहे हों...शायद चाचा भी वहीं हो... शायद मां भी जाग रही हो। वह मां के सामने जा खड़ा हो तो...तो ...तो...नहीं, नहीं, वह मां के सामने नहीं जायगा...

"नहीं क्यों। मां के लिए ही तो वह आया है...।"

"मैं मां के लिए आया हूं...।"

"हां, हां और हां... ।"

उसने एकाएक जोर से आंखें मींच ली और सोचने लगा। सोचते-सोचते सहसा उसका मन एक अद्भुत भावना से भर उठा। उसे सचमुच जीने क इच्छा होने लगी। उसे घर की इच्छा होने लगी। उसे घर के सुख की इच्छा

होने लगी। उसने तकिये को टटोला छुरा उसी तरह सुरक्षित था। इस छुरे से वह अपने चाचा की हत्या करना चाहता है। इस छुरे को वह बम्बई से लेकर आया है। नहीं, नहीं, नहीं वह...

"नहीं क्यों वह चाचा की हत्या करने आया है और करेगा।"

"नही, नहीं, नहीं..."

"नहीं क्यों, कायर। किनारे पर आकर पीछे हटता है। घर के पास आकर तुझे घर का मोह सताता है। आगे बढ़। यह सुन्दर अवसर है। अपना बदला ले..."

वह फुसफुसाया, "सुन्दर अवसर है। अपना बदला ले...बदला...बदला ...नहीं, नहीं।"

वह फुसफुसा रहा था और आगे बढ़ रहा था। न चाह कर भी आगे बढ़ रहा था। बढ़ा जा रहा था। पेड़ों की पंक्तियां पास आ गई थीं। बस उस मोड़ के बाद वह गांव के तालाब के पास पहुंच जायगा। कुत्तों के भौंकने की आवाज तेज हो रही है। कितने कुत्ते हैं इस गांव में। क्या बढ़ गये ? और यह क्या, यह प्रकाश कैसा ? यह धुआं-सा कैसा उठ रहा है। धुआं, प्रकाश। प्रकाश, धुआं। आग...

आग, गांव में आग लगी है। उधर परले किनारे पर आकाश लाल होता जा रहा है। उधर तो खलिहान है। तो क्या किसीके खलिहान में आग लगी है। खलिहान में आग। वह तो खूब अनाज से भरा होगा। अब तो यहां खूब अनाज होता होगा। यहां नहर आ गई है...

वह तेजी से दौड़ने लगा। कुत्ते और भी तेजी से भौंक रहे थे। आदमियों की आवाजें जाग रही थीं और वह दौड़ रहा था। उसने छुरा हाथ में ले लिया था। वह गांव के बीच से होकर नहीं गया। बाई ओर से होकर वह प्रकाश की दिशा में दौड़ा। वह कीचड़ में लिथड़ गया। उसके पैरों में कांटे चुभे पर वह रुका नहीं, दौड़ा ही चला गया जैसे चुम्बक से खिचा जा रहा हो लेकिन पास आकर देखा, आग खलिहान में नहीं है। गांव के एकमात्र पक्के मकान में है और वह मकान उसके चाचा का है।

क्षण के सहस्रवें भाग के लिए वह ठिठका, "चाचा का घर जल रहा है ..।"

तभी उसने देखा—एक व्यक्ति दबेपांव खलिहान के पास पहुंच गया है और कुछ फेंकना चाहता है। बस यंत्रवत् उसने लंगूर की तरह छलांग लगाई और उसे दबोच लिया। कई क्षण तक छीना-झपटी होती रही। आखिर रामसिंह ने उसकी जांघ में छुरा भौंककर उसे बेकार कर दिया और फिर उसी आवेश में जलते हुए मकान की ओर भागा।

वहां हृदय द्रावक दृश्य था। आग की लपटें मकान के बीच में से इधर से उधर से सब कहीं से लपलपाती हुई ऊपर को उठ रही थी। लोग चीख रहे थे, हांफ रहे थे। पानी, रेत, मिट्टी जो कुछ भी उन्हें मिलता उसीको फेंक रहे थे। आसपास के जो कच्चे घर थे उनके छप्पर तोड़ रहे थे। आग धुआं, चीत्कार, रुदन, शोर, भय सबने मिलकर आकाश को घेर लिया था। और मकान के अन्दर से कायरों को भी साहसी बनानेवाला चीत्कार उठ रहा था। पर आग थी कि बड़े-से-बड़े साहसी को भी पीछे ढकेल देती थी...।

ऐसे अवसर पर रामसिंह ने घबराये हुए वहां प्रवेश किया। क्षण-भर के लिए वह भीड़ में खो गया पर उसे दुर्गम परिस्थिति को समझते हुए देर नहीं लगी। वह आग में कूद पड़ा। लगा जैसे कोई पदार्थ बड़वानल में डूब गया है पर निमिष मात्र में ही एक प्रेतमूर्ति ऊपर चढ़ती हुई दिखाई दी। वह अटकी नहीं, झिझकी नहीं, शून्य में जादू के रस्से की तरह चढ़ती चली गई और फिर छत पर कूद पड़ी...।

वातावरण सहसा स्तब्ध हो आया। लोग अविश्वास से नेत्र विस्फारित किये देखते रह गये। आग की लपटें उसी तरह उठ रही थीं, धुआं उसी तरह उमड़-घुमड़ रहा था। सहसा दरवाजा खुल गया और उस कड़ुवे तप्त धुएं को चीरकर लड़खड़ाती हुई कई छाया-मूर्तियां वहां आकर गिर पड़ीं।

रामसिंह ने दो संज्ञाहीन बालकों को छाती से चिपका रखा था। उन्हें

मां के समीप धरती पर लिटाकर उसने चाहा कि वह जिस तरह प्रकट हुआ था उसी तरह गायब हो जाय पर हुआ यह कि जबतक लोग उन्हें संभालें, वह पछाड़ खाकर वहीं मां के चरणों के पास गिर पड़ा।

और गिरते-गिरते उसके मुंह से जो 'मां' शब्द निकला, वह सब सुननेवालों को कम्पित करता हुआ सारे आकाश में व्याप्त हो गया।

नींद नहीं आती

हमारे गांव में जो वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल था उसके हैडमास्टर का पूरा नाम मुंशी कालिकाप्रसाद था पर जनसाधारण में वह 'मुंशीजी' के संक्षिप्त नाम से प्रसिद्ध थे। कद मंझोला था पर आंखें बड़ी तेज थीं। उनके बाल खिचड़ी थे पर नाक मोटी होकर भी सुडौल थी। उनके ओठों की वक्रता में मुस्कान ढूंढ़ने के लिए दूरबीन की आवश्यकता पड़ती थी। वैसे वह कभी-कभी हँसते थे पर ऐसे जैसे जल्लाद।

उनकी अदालत में अक्सर मुकदमे आते थे और अक्सर वह बेंत का प्रयोग करके उनका फैसला कर देते थे। वह बोलते बहुत थे। और ऐसी साहित्यिक भाषा बोलते थे जो चाबुक की तरह चोट करनेवाले व्यंग्यों से लबालब भरी रहती थी। पुराने जमाने के लोगों की तरह गाली देने का व्यसन उन्हें विरासत में मिला था पर उनका अचूक हथियार बेंत ही था। उनका दावा था कि आज जो इतने पढ़े-लिखे अफसर दिखाई देते हैं वे सब उसकी बेंत के कारण ही हैं।

लेकिन एक दिन ऐसा हुआ कि उन्होंने एक लड़के को बेंत से पीटने से इन्कार कर दिया। प्राय: सभी लोगों का विश्वास है कि उनका ऐसा करना सरासर अन्याय था, विशेषकर इसलिए कि उससे कुछ क्षण पूर्व ही वह तीन इनाम पानेवाले विद्यार्थियों को खूब पीट चुके थे। उनके न्याय पर शंका करना एक असम्भव बात थी क्योंकि उनकी अदालत में उनके बेटे तक के साथ पक्षपात नहीं हुआ था।

बात इस प्रकार थी कि उनके बेटे ने छटी क्लास की एक लड़की के चूंटी काट ली थी। जब इस संगीन घटना की शिकायत उनके पास पहुंची

तो उन्होंने सदा की तरह चिल्लाकर बेटे को अपने सामने हाजिर होने की आज्ञा दी। उसके आने पर जैसा कि वह किया करते थे उन्होंने सिर से पैर तक ऐसे देखा जैसे धूप मुंडेर पर चढ़ती और उतरती है। फिर पूछा, "क्यों रे। तूने चूंटी काटी है।"

बेटे के काटो तो खून नहीं, जवाब न दे सका। इसपर मुंशीजी ने चिल्लाकर कहा, "बेवकूफ ! क्या तू नहीं जानता कि तू मेरा बेटा है। मैं इतना तेज बोलता हूं और तेरी जबान को जैसे लकवा मार गया है।"

बेटे ने अब सहमी हुई आंखों से मुंशीजी की ओर देखा और फिर मोहाविष्ट व्यक्ति की तरह उसने कहा, "जी हां।"

"तूने चूंटी काटी है।"

"जी हां।"

उसके बाद उस कमरे के किवाड़ बन्द हो गये और देखते-देखते बेंत की सांय-सांय और मुंशीजी के बेटे की दर्दनाक चीखों से पाठशाला का आंगन गूंज उठा। सहमे और डरे हुए विद्यार्थी, घबराये हुए मास्टर—वे सब एक बार तेजी से उस कमरे की ओर बढ़ते और फिर जैसे बिजली का झटका लगता हो, पीछे लौट आते। वे सुनते कि मुंशीजी बराबर बोल रहे हैं, "कम्बख्त ! तू यह कैसे भूल गया कि एक दिन तुझे भी इसी गांव में इसी कुर्सी पर बैठना है, कि एक दिन तुझे भी बच्चों को पढ़ाना है, कि एक दिन तुझे भी इस बेंत का इस्तेमाल करना है...। दूर हो जा मेरी आंखों के आगे से, तू मेरे बाद इस कुर्सी पर बैठने लायक नहीं है। तभी तो अब सरकार बाप के बाद बेटे को जगह नहीं देती...।"

कुछ दिन इस घटना की चर्चा हाट बाजार में भी चली पर फिर शीघ्र ही लोग इस बात को भूल गये। तब सालाना परीक्षाएं पास आ रही थीं। इसलिए पढ़ाई के साथ-साथ, लोग-बाग बजीफे की परीक्षा में अव्वल आनेवाले विद्यार्थियों के बारे में अटकलबाजियां लगाने में मशगूल हो गये। मुंशीजी इस बारे में अपवाद थे। परीक्षा-फल आने से पहले वह कभी अपनी राय प्रकट नहीं करते थे। यहांतक कि जिस दिन परीक्षा समाप्त हुई

उस दिन भी उन्होंने अटकल लगाने की कोशिश नहीं की। हां, हम सबको बुलाकर उन्होंने एक अच्छा खासा लैक्चर दे डाला। आप समझते होंगे कि यह सब इस कारण था कि अब हमारा और उनका साथ छूटने वाला था। जी नहीं। विदा और मिलन के रोमांस में उन्हें रत्ती-भर विश्वास नहीं था। उन्होंने हमसे साफ-साफ कहा, "यह न समझना कि तुम्हें स्कूल से छुट्टी मिल जायगी। नहीं, तुम कहीं भी जाओ, रहोगे इसी स्कूल के विद्यार्थी। समझे बेवकूफो। जाओ, अब नतीजा निकले उस दिन आना। तबतक जी भरकर खेलो-कूदो।"

अगर्चे हममें से कुछ लोग उनकी हँसी उड़ाने लगे थे पर उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना किसीके बस की बात नहीं थी। इसलिए जिस दिन परीक्षा-फल आया उस दिन सभी विद्यार्थी उनके सामने पहुंचे। उनमें वे भी थे जिन्होंने वजीफे लिये थे और वे भी थे जो फेल हुए थे। रास्ते पर सभी 'वहां क्या होगा' इस बात की अटकलबाजी लगाते रहे। विशेषकर हम तीन विद्यार्थी बहुत खुश थे। हम तीनों स्कूल में अव्वल, दूसरे और तीसरे नम्बर पर पास हुए थे। तीनों को वजीफे मिले थे। यह बात दूसरी थी कि जिलेभरमें अव्वल आनेवाला विद्यार्थी दूसरे गांव के स्कूल का था। हममें से जो अव्वल आया था उससे उसने सिर्फ एक ही नम्बर अधिक पाया था। इस बात की कसक हम सबके दिल में थी फिर भी हम सब बेहद खुश थे क्योंकि हमने अपनी क्लास के मानीटर को बहुत बुरी तरह परास्त किया था। गोरे मुंहवाला वह मानीटर क्लास मास्टर का बड़ा मुंह-लगा था। उसके अव्वल आने की सबको पूरी आशा थी पर वह हम सबसे पीछे रह गया था।

रास्ते में वह हमारे पास से गुजरा तो कतराकर निकल गया। मेरे साथी ने कहा, "क्या ख्याल है। आज मुंशीजी इसकी खाल उधेड़ डालेंगे।"

मैंने कहा, "इसमें भी क्या शक है।"

और तब हम तीनों उसकी दर्दनाक चीखों को सुनने की खुशी में ठहाका मारकर हँसे। फिर शीघ्र ही हम लोग वहां आ गये जहां मुंशीजी बैठे थे।

वहां लगभग सारा स्कूल जमा था और एक घुटा हुआ शोर मच रहा था। सब लोग टोलियों में बंटकर अपने-अपने दृष्टिकोण से परीक्षा-फल पर बहस कर रहे थे लेकिन एक बात के बारे में सब एकमत थे कि हम तीनों ने स्कूल की लाज रखी थी। विशेषकर मेरे बारे में तो किसीको यह आशा नहीं थी कि मैं दूसरे नंबर पर आऊंगा। मैं एक नंबर का खिलाड़ी था और अक्सर पीछेवाले बाग से बेर और अमरूद तोड़ने के अपराध में बेंत भी खाता था। इसलिए सब लोगों ने मुझे विशेष रूप से बधाई दी लेकिन जैसे ही मेरी दृष्टि मुंशीजी पर पड़ी तो सहसा मेरा मन अशान्त हो उठा। वह दृष्टि मुझसे सही नहीं गई। वह मुस्करा रहे थे। कैसे बताऊं कि मैंने उस जलती हुई मुस्कराहट में क्या देखा। जैसे कोई दहकते हुए चाकू से दिल को चीरता हुआ चला गया हो।

यही हाल मेरे दोनों साथियों का था। हम लोगों के किसी दुर्भाग्य की जैसे वह पूर्व-सूचना थी। दुर्भाग्य की बात मैं आज कहता हूं, तब तो मेरे किशोर मन पर भय का आतंक ही छाया हुआ था। उन्होंने एक अजीब-सी तीखी आवाज में हमें पुकारा। सबसे आगे गोन्दि था जो अव्वल आया था। वह जैसे ही उनके पास पहुंचा उन्होंने उसे ऐसे लपका जैसे शिकारी शिकार को लपकता है। एक क्षण उसे निहारा फिर पूछा, "तो तुम अव्वल आये हो?"

"जी...जी हां।"

"हूं।" उन्होंने अपने वक्र होठों को और भी वक्र किया। फिर आव देखा न ताव, मोटी-मोटी बेडौल गालियों के साथ-साथ तमाचों, लातों और घूंसों से उस अव्वल आनेवाले विद्यार्थी की चटनी बनानी शुरू कर दी—"हूं।" तो तुम अव्वल आये हो। अपना ही खयाल रहा साहबजादे को। स्कूल की कुछ फिक्र नहीं की। दो नम्बर और नहीं ले सकते थे। दो नंबर के लिए स्कूल का नाम डुबो दिया। शर्म नहीं आती। दो नम्बर कुछ होते हैं...।"

हतभागा गोविन्द चीख-चीख उठा और चारों तरफ एक भयानक ठंडा

आतंक छाता चला गया जिसने हड्डियों तक को जमा दिया। कुछ बच्चे तो चीखते हुए वहां से भाग गये लेकिन मुंशीजी नहीं रुके। पर पीटते-पीटते जैसे ही उनकी दृष्टि मुझपर पड़ी तो उन्होंने गोविन्द को छोड़ दिया। शायद उनके हाथ थक गये थे क्योंकि अब उन्होंने बेंत उठा ली थी। वे सड़ासड़-तड़ातड़ मुझे पीटते चले गये। पीटने के साथ-साथ वह बोलते भी जाते थे, "तो तुम तीन नम्बर से, सिर्फ तीन नम्बर से स्कूल की नाक कटवा आये। कितने नम्बर हैं हिसाब में ?"

मैंने रोते हुए कहा, "जी जी, सौ में से चौरानवे।"

"तो फिर," उन्होंने कसकर बेंत मारते हुए कहा, "तो फिर जब ९४ लिये तो ९७ क्यों नहीं लिये। ये देखनेवाले भी...हूं...अच्छा जाने दो हिसाब की बात। भूगोल, इतिहास में कितने हैं।"

"जी। पचास में से पैंतीस।"

"पैंतीस। शर्म नहीं आती। पैंतीस। दिनभर बाग में टंगा रहता था। कभी नदी के किनारे तो कभी जंगल में, लेकिन यह नहीं हुआ कि साथ-साथ भूगोल भी याद कर ले। शैतान। मैं जानता हूं तू पैंतीस की जगह अड़तीस ला सकता था। पर स्कूल का किसीको खयाल हो तब न...।"

कहना व्यर्थ है कि तीसरे साथी के साथ भी यही बीती। मुझे याद है कि हम लोगों के शरीर नीले पड़ गये थे। हम सुबक-सुबककर रो रहे थे, हम जो अव्वल, दूसरे और तीसरे नम्बर पर आये थे, हम जिन्होंने वजीफे लिये थे। मास्टर हैरान-परेशान कि आखिर यह सब हुआ क्या ? वे इस काण्ड की कल्पना नहीं कर सकते थे। जब हम तीनों पिट चुके तो मुंशीजी ने चिल्लाकर कहा, "इन कम्बख्तों के कुछ इनाम आये हैं। बांट दो इनमें।"

लोगों का खयाल था कि इसके बाद क्लास के शेष विद्यार्थियों की खैर नहीं पर उन्होंने उधर आंख उठाकर देखा तक नहीं। तब हमें चोट के कारण इतनी पीड़ा नहीं हुई जितनी इस बात से हुई। विशेषकर मानीटर के बच जाने का हमें बहुत दुःख हुआ। मैं तीनों में अक्खड़ था सो रहा नहीं गया। उठकर कहा, "जनाब ! आपने मानीटर को तो कुछ कहा ही नहीं।"

उन्होंने सहसा मुझे देखा, "कौन मानीटर ?"

"हमारी क्लास का मानीटर जिसे वजीफा तक नहीं मिला।"

जैसा कि उनका स्वभाव था उन्होंने चिल्लाकर कहा, "बुलाग्रो उसे।"

एक साथ सबकी दृष्टि उधर गई जिधर मानीटर घुटनों पर कुहनियां रखे दोनों हाथों के बीच सिर थामे सहमा हुग्रा बैठा था। उसका श्वेत वर्ण बिल्कुल पीला पड़ गया। ग्रपना नाम सुनकर वह लड़खड़ाता हुग्रा ग्रागे बढ़ा ग्रौर वहां ग्राकर खड़ा हो गया जहां मुंशीजी बैठे थे। देखने की क्रिया समाप्त हो जाने के बाद उन्होंने पूछा, "तुम मानीटर हो"

"जी...जी...जी...।"

सहसा मुंशीजी हँस पड़े। ग्रचरज कि वह हँसी जल्लाद की हँसी से भिन्न थी। वह हँसते-हँसते मास्टरों की ग्रोर मुड़े ग्रौर पूछा, "इसे किसने मानीटर बनाया ?"

हमारी क्लास के मास्टर खड़े हो गये। मुंशीजी बोले, "मास्टर रामप्रसाद। तुम्हारे चुनाव की तारीफ करता हूं। कल मुझसे दफ्तर में मिलना।"

ग्रौर कहते-कहते उन्होंने बेंत उठा ली। भृकुटि तन गई। सब लोग कांप उठे कि ग्रब मानीटर की खैर नहीं। सबने बेंत की सांय-सांय ग्रौर उसकी दर्दनाक चीख सुनने के लिए यंत्रवत ग्रांखें बन्द कर लीं लेकिन दूसरे ही क्षण एक दूसरी ही तरह की ग्रावाज सुनकर सब लोग चौंक उठे। जो बेंत मानीटर की खाल उतारने को उठी थी वह सहसा उनके ही दूसरे हाथ में ग्राकर रुक गई। उन्होंने उसे दोनों हाथों से पकड़ा ग्रौर घुटने पर जमाकर तोड़ डाला। इसी टूटने की ग्रावाज पर हम चौंक पड़े ग्रौर जब हमने ग्रांखें खोली तो मुंशीजी शब्दों को चबा-चबाकर बोल रहे थे, "इसे मारूंगा। मैं इसे मारूंगा ?"

ग्रौर फिर उन्होंने बेंत के दोनों टुकड़े दूर फेंकते हुए चीखकर कहा, "ग्रो कम्बख्त। मेरे सामने से हट जा।"

वह दो कदम चलकर वहीं बैठ गया। उसका चेहरा स्याह पड़ गया था ग्रौर मुंह को तर करने के लिए वह जीभ को बुरी तरह घुमा रहा था। सचमुच तब हम सभी बुरी तरह प्यासे थे कि मुंशीजी ने चपरासी को शक्कर घोलकर लाने की ग्राज्ञा दी। यह उनका प्रिय पेय था। जबतक पानी ग्राया तबतक सब लोग तितर-बितर हो चुके थे पर उन्होंने हम तीनों को नहीं जाने दिया। चपरासी के ग्राने पर उन्होंने कहा, "एक-एक गिलास इन्हें भी दो।"

ग्रौर ग्रपना गिलास ग्रव्वल ग्रानेवाले विद्यार्थी की ग्रोर बढ़ाकर उससे बोले, "पहले तुम।"

"जी...जी...।" वह रिरियाया।

"पहले तुम।" मुंशीजी ने स्वाभाविक कड़कता से ग्रादेश दिया। विद्यार्थी ने गिलास ले लिया ग्रौर जबतक हम तीनों वह मीठा पानी नहीं पी चुके तबतक उन्होंने ग्रपने गिलास को होंठों से नहीं लगाया।

इसके ग्रागे की बात सुनी हुई है। कहनेवाले कहते हैं कि उस परीक्षा-फलवाली रात को मुंशीजी की पत्नी की ग्रांखें कई बार खुलीं। उन्होंने महसूस किया कि मुंशीजी बार-बार करवट बदल रहे हैं। उन्होंने पूछा, "क्या बात है?"

मुंशीजी ने उत्तर दिया, "कुछ नहीं।"

"कुछ तो है।"

"कुछ नहीं, ऐसे ही नींद नहीं ग्राती।"

"क्यों? क्या तबीयत खराब है?"

इस प्रश्न का मुंशीजी ने कोई उत्तर नहीं दिया। करवट बदलकर ऐसे लेट गये जैसे सो गये हों पर कुछ ही क्षण बाद वह उठ बैठे। बोले, "ज़रा देखना तो मेरी कमर पर क्या है?"

पत्नी ने लालटेन जलाकर ध्यान से देखा, बोली, "यहां तो कुछ नहीं है।"

"कुछ नहीं कैसे?" उन्होंने कई स्थानों पर उंगली रखकर कहा,

"यह देखो, यहां कितना दर्द है!"

और उन स्थानों को उंगली से दबाते-दबाते वह सचमुच कराह उठे। पत्नी हैरान कि कहीं कुछ नहीं है फिर दर्द कैसे? उसने कहा, "मालूम होता है कोई नस तिड़क गई है। बाहर से तो कुछ पता लगता नहीं।"

"बाहर से कुछ पता नहीं लगता," उन्होंने धीरे-से कहा, "क्या मेरा मुंह लाल नहीं है?"

पत्नी सकपका गई बोली, "यह तुम्हें क्या हो गया?"

मुंशीजी सहसा तेजी से बोले, "बड़ा तेज दर्द है। उफ, बड़ा तेज दर्द है।"

और जैसे वह चीख उठेंगे पर हुआ यह कि उन्होंने अपने ही हाथों से अपना मुंह भींच लिया और औंधेमुंह लेट गये।

उस पूरी रात वह इसी तरह तड़फड़ाते रहे। उनके मुंह भींचने के बावजूद उनकी सिसकियां कई बार उन्हें धोखा दे गईं। लेकिन मजाल कि उन्होंने कभी किसीसे उस घटना का जिक्र तक किया हो। यही नहीं मरते दम तक बेंत की शक्ति में उनका पूरा विश्वास जमा रहा। यह दूसरी बात है कि इतने बड़े विश्वास के रहते हुए भी उसका प्रयोग अब बहुत कम रह गया था। और उसका कारण वह यही देते थे कि अब उनमें शक्ति नहीं रही है। लेकिन मैं सोचता हूं कि मानव-मन कितना विचित्र है!

मणि, कलंक और राजनीति

कृष्ण द्वारका क्या लौटे मानों यादवों के जीवन-सूर्य ने प्राची से सिर निकाला। हर्ष की किरणों ने विषाद के मेघों को छिन्न-भिन्न कर दिया। वृष्णि वीरों ने प्रफुल्लित होकर कहा, "देखा कृष्ण लौटे और मणि लेकर लौटे।"

"और मणि के साथ एक प्रियतमा भी।"

"सत्राजित कितना मूर्ख था।"

"धूर्त कहीं का। कहता था प्रसेन को मारकर कृष्ण ने मणि छीनी है।"

"भला कृष्ण भी कहीं चोरी कर सकते हैं।"

"नहीं। वह हमारा प्यारा नेता है। संघ के बाहर भी उसकी पूजा होती है।"

जनता की स्मृति वायु का रुख देखती है। कल वे कृष्ण के विरुद्ध थे, आज सत्राजित को मूर्ख कहने लगे। वह दुखी हो उठा। पत्नी से कहा, "मैंने कृष्ण को व्यर्थ लांछित किया। ग्लानि के मारे अब सिर नहीं उठा सकता।"

पत्नी बोली, "हुआ तो सचमुच बहुत बुरा।"

"सोचता हूं, मणि उन्हें लौटाकर पाप का प्रायश्चित्त कर डालूं।"

"लेकिन क्या वह मणि लेंगे।"

"मैंने उसका उपाय सोच लिया है।"

उत्सुक होकर पत्नी ने पूछा, "क्या सोचा है?"

"यही कि सत्यभामा का विवाह उनसे कर दें और दान में वह मणि दे दें।"

यादवी सहसा भय से कांप उठी। बोली, "क्या कहते हैं, ग्राप ?" सत्यभामा शतधन्वा की वाग्दत्ता है। शतधन्वा वीर है। वीर पुरुष ग्रपना ग्रपमान नहीं सह सकता।"

"जानता हूं। शतधन्वा वीर है परन्तु कृष्ण वीर भी है ग्रौर नेता भी। संघ से बाहर भी उसकी पूजा होती है। उसकी मित्रता पाकर मैं शतधन्वा की चिन्ता नहीं करता।"

तर्क प्रबल था। यादवी ने स्वीकृति दे दी। ग्रौर फिर एक दिन शुभ मुहूर्त्त में परम सुन्दरी सत्यभामा का विवाह वृष्णि संघ के नेता श्रीकृष्णचन्द्र के साथ कर दिया गया। परन्तु मणि को लेना उन्होंने स्वीकार नहीं किया। कहा, "इस मणि के कारण यादवों में गृह-कलह होते-होते बचा है। यदि इसे स्वीकार करूंगा तो ये ठीक ही कहेंगे कि कृष्ण लोभी है।"

सत्राजित प्रसन्न था कि मणि उसीके पास रही। परन्तु शतधन्वा इस ग्रपमान से पागल हो उठा। हृदय पर पत्थर रखकर उसने ग्रपनी वाग्दत्ता को कृष्ण की प्रियतमा बनते देखा। वह वीर था परन्तु कृष्ण की बढ़ती हुई शक्ति को चुनौती देने की शक्ति उसमें नहीं थी। इसपर ग्रक्रूर ने कहा, "इसमें कृष्ण का ग्रपराध नहीं है।" शतधन्वा एक क्षण के लिए मौन हो गया। फिर बोला, "तब किसका है ?"

"सत्राजित का।"

"शायद तुम ठीक कहते हो। मैं उसीसे बदला लूंगा।"

कृतवर्मा ने भी यही कहा, "सत्राजित को मार डालो।"

शतधन्वा झिझका, "परन्तु कृष्ण...।"

कृतवर्मा हँसा, "जानता हूं। सुनो कृष्ण-बलराम हस्तिनापुर जा रहे हैं। उनके लौटने से पहले ही तुम ग्रपना प्रतिशोध ले लो। शेष मैं देख लूंगा।"

शतधन्वा प्रफुल्लित हो उठा बोला, "तब उसकी मौत निश्चित है। उसने मेरा ग्रपमान किया है। मेरी वाग्दत्ता कृष्ण को दी है। उसे मरना होगा।"

और सचमुच रात के समय उसने सोते हुए मणिसहित सत्राजित का सिर काट डाला। द्वारका में जैसे तूफान आ गया।

"कृष्ण के श्वसुर की हत्या।"

"कृष्ण शतधन्वा को नहीं छोड़ेंगे।"

"शतधन्वा इतना कायर !"

"लेकिन कृष्ण ने उसकी वाग्दत्ता से विवाह किया है।"

"कृष्ण शक्ति-सम्पन्न है। कृष्ण नेता है।"

"और हम कायर हैं।"

"हां, तुम कायर हो। शतधन्वा कायर है। उसने सोते हुए सत्राजित का वध किया है।"

"कायर का साथ देनेवाले भी कायर हैं।"

"हां। वह कायर है," सत्यभामा ने क्रुद्ध-कम्पित स्वर में कहा, "उसे मुझसे प्रेम था तो मेरे पति को ललकारा होता। मेरे पिता से युद्ध किया होता। वीर पुरुष सोते हुए सिंहों का वध नहीं किया करते।"

और वह उसी क्षण रथ में सवार होकर अकेली हस्तिनापुर को पहुंची। कृष्ण ने आश्चर्य से देखा—अपूर्व लावण्यमयी सत्यभामा के तरल नेत्रों से अग्नि प्रज्वलित हो रही है। वक्षस्थल उच्छ्वसित है। क्रोध और वेदना से वह कांप उठती है। सहसा बोल उठे, "शुभे ! तुम यहां। कुशल तो है ?"

अवरुद्ध कंठ सत्यभामा ने कहा, "देव ! मेरे पिता ! ..."

प्राणपन से जिस आवेग को अबतक रोका, वह मुक्त हो गया। उसे संभालते हुए हतप्रभ कृष्ण ने पूछा, "तुम्हारे पिता को क्या हुआ, देवी ?"

"शतधन्वा ने सोते हुए मेरे पिता का सर काट डाला।"

निमिष मात्र में सबकुछ स्पष्ट हो गया। गृहकलह की यह नई भूमिका थी। कृष्ण तिलमिला उठे। बलराम से बोले, "भैया, अब क्या होगा ?"

"क्या होगा ?" बलराम बोले, "मुझसे पूछते हो ? अब शतधन्वा और उसके साथियों का वध होगा।"

"भैया..."

"रक्त का परिशोध रक्त से होता है, कृष्ण। सारथी से कहो रथ जोड़ ले।"

सत्यभामा के नयनों से कृतज्ञता उमड़ पड़ी। दृढ़ स्वर में बोली, "हां, मैं पिता की मृत्यु का परिशोध चाहती हूं।"

"अवश्य, शुभे। निश्चय ही मृत्यु अब शतधन्वा का वरण करेगी।"

और शीघ्र ही तीव्रगामी घोड़ों के रथ पर चढ़कर वे द्वारका की ओर चले। उनके हृदय में एक संकल्प था, शतधन्वा की मृत्यु। उनकी दृष्टि में एक लक्ष्य था, शतधन्वा की मृत्यु। उनके कानों में एक गूंज थी, शतधन्वा की आर्त-वाणी। लेकिन शतधन्वा, वह द्वारका से पलायन कर चुका था। जब उसने सुना कि सत्यभामा हस्तिनापुर गई है तभी वह समझ गया कि उसका अंतकाल आ पहुंचा है। वह कृतवर्मा के पास दौड़ा, "मेरी रक्षा करो। कृष्ण, बलराम मुझे मारने आ रहे हैं।"

सेनापति कृतवर्मा ने विनम्र वाणी में कहा, "मैं विवश हूं। कृष्ण से शत्रुता करना मेरी शक्ति से बाहर है।"

उसने अक्रूर के चरण पकड़े, "मेरी सहायता करो।"

अक्रूर हँसे, "कृष्ण के विरुद्ध तुम्हारी सहायता, मूर्ख भागो यहां से।"

शतधन्वा की आंखों का अन्धकार और भी सघन हो उठा। उसने संसार को नग्न रूप में देखा। उसने यादवों का विश्वास करके कितनी बड़ी भूल की थी। भागने में ही अब उसका त्राण था।

द्वारका आने पर बलराम ने जब यह कथा सुनी तो वह फुंकार उठे, "कायर! भागकर कहां जायगा। त्रिलोकी में भी हम उसे नहीं छोड़ेंगे।"

उन्होंने सत्यभामा को द्वारका में ही छोड़ दिया। घोड़े बदले और शतधन्वा के पीछे दौड़ चले। एक बार फिर ग्राम, पुर, नदी, नद, ताल, वृक्ष, पीछे छूटने लगे। फिर घोड़ों की टापों से दिशाएं गुंजरित होने लगीं। फिर धनुष की टंकार से कायरों के दिल दहल उठे। घोड़ों के मुंह से फेन गिरने लगा। उस समय रथ की ध्वजा बड़े वेग से फहरा रही थी। चक्राकार पहिये अपनी परिधि पर कालचक्र की भांति घूम रहे थे। वृक्ष सहसा पास आते

और दूर हो जाते। टेढ़े-तिरछे त्रिभंगाकार पदार्थ एकदम सम और सीधे जान पड़ते। लेकिन चारों ओर से ध्यानमुक्त कृष्ण और बलराम केवल शतधन्वा को ही देख रहे थे। शीघ्र ही चपला की गति से चलनेवाला उसका अश्व उनकी दृष्टि में आ गया। उसकी चाल पर वे मुग्ध हो उठे। मानों पृथ्वी से चिपक गया हो। परन्तु यह क्या ! सहसा कृष्ण चिल्लाये, "भैया।"

बलराम की भृकुटि ढीली पड़ी, "देख रहा हूं। उसका घोड़ा गिर गया है।"

"मैं अब पैदल उसका पीछा करूंगा।"

"हां, उसकी मृत्यु समीप है। तुम जा सकते हो।"

"कृष्ण रथ से कूद पड़े। उनका उत्तरीय वायु में उड़ने लगा। कैयूर भुजाओं के तनाव के कारण धूप में मणि के समान चमकने लगे। शरीर से टकराकर वायु सांय-सांय कर उठी। जूड़ा खुल गया। लेकिन वह भागते ही गये। शतधन्वा स्पष्ट दिखाई देने लगा। वह बार-बार पुकारने लगे, "ठहरो शतधन्वा। वीर पुरुष भागा नहीं करते।"

कृष्ण की वाणी कानों में पड़ते ही शतधन्वा की वीरता जैसे लौट आई। वह रुक गया और तीव्र स्वर में बोला, "कृष्ण, तुमने मेरी वाग्दत्ता को ग्रहण किया है। तुम वध्य हो।"

कृष्ण हँसे, "कायरों की भांति भागकर सम्भवतः आप मेरा वध करने के लिए ही यहां आये हैं।"

"कृष्ण," शतधन्वा ने तलवार खींच ली, "तुम तंत्र के अधिष्ठाता हो। पद का दुरुपयोग करके शायद तुमने वीरता का परिचय दिया है। मैं तुम्हें जीवित नहीं लौटने दूंगा।"

कृष्ण फिर हँसे, "शतधन्वा तुमने सोते हुए शेरों का वध करना सीखा है। जागतों का नहीं।"

और उन्होंने भी तलवार खींच ली। उस निर्जन-सघन वन में दो यादव-वीर एक दूसरे को मारने के लिए प्रस्तुत हो उठे। शतधन्वा वीर था। परन्तु

पाप के कारण उसका हृदय कांप रहा था। कृष्ण को वह नहीं जीत सका। तलवार फेंककर उसने मलयुद्ध की चुनौती दी। लेकिन वह भी व्यर्थ गई। दो ही क्षण में कृष्ण ने उसे धराशायी कर दिया। उसके प्राण अनन्त में विलीन हो गये। लेकिन आश्चर्य, मणि उसके पास नहीं थी। बार-बार खोजने पर भी कृष्ण को निराश होना पड़ा। वह लौट आये। बलराम ने हर्षोन्मत होकर कहा, "तुमने उस दुष्ट को मार डाला ?"

"हां ! भैया।"

"मणि ले आये।"

"नहीं।"

"नहीं, क्यों ?"

"उसके पास नहीं है।"

"उसके पास नहीं है। क्या कहते हो ?"

"ठीक कहता हूं, भैया।"

एकाएक बलराम की भृकुटि तन गई। क्रुद्ध-कम्पित स्वर में बोले, "कृष्ण, तुम झूठ बोल रहे हो।"

"भैया।"

बलराम ने उसी आवेश में कहा, "मैं नहीं जानता था तुम इतने लालची हो। मणि चुराकर मुझसे कहते हो वह नहीं है। मैं तुम्हारे साथ द्वारका नहीं लौटूंगा।"

इतना कहकर वह रथ से कूद पड़े और निमिष मात्र में आंखों से ओझल हो गये। आकस्मिकता से अभिभूत कृष्ण एक शब्द भी न बोल सके। पीड़ा से उनका हृदय त्रस्त हो उठा। आंखें सजल हो आईं, "यह क्या है ? भैया भी मुझे इतना तुच्छ समझते हैं। लेकिन नहीं, वह भैया हैं तो क्या हुआ ? हैं तो यादव ही। धन, शक्ति, रूप और ऐश्वर्य ने इन यादवों को उन्मत कर दिया है। मैं क्या करूं, जो होना है वह हो।"

वह द्वारका लौट आये। सीधे सत्यभामा के भवन में जाकर उन्होंने कहा, "शुभे ! तुम प्रसन्न होओ। तुम्हारे पिता का हत्यारा इस लोक में नहीं

रहा।"

वाष्परुद्ध वाणी सत्यभामा ने कहा, "वार्ष्णेय की जय हो।" और फिर पास आकर मृदु मधुर कंठ में बोली, "प्रियतम से यही आशा थी।"

"लेकिन सत्यभामा।"

"लेकिन क्या...?"

"शतधन्वा के पास मणि नहीं मिली।"

अविश्वास के स्वर में सत्यभामा ने कहा, "मणि उसके पास नहीं मिली। ...मणि तो उसीके पास थी।"

"विश्वास तो यही था।"

"और केवल आप ही ने उसे मारा है।"

"हां।"

"तब मणि कहां जा सकती है ?"

"सत्यभामा !" कृष्ण का स्वर व्यथा से अवरुद्ध हो उठा।

"देव !" सत्यभामा कुछ खोई-खोई-सी थी।

"भैया की तरह क्या तुम भी मानती हो कि मैं झूठ बोल रहा हूं।"

कृष्ण के शब्दों में इतनी कातरता, इतना उद्वेग था कि सत्यभामा हिल उठी। विह्वल-विकल होकर उसने कहा, "नहीं, नहीं, देव ! मेरा यह आशय नहीं। क्षमा कीजिये। प्रसन्न होइये। नाथ ! हृदयधन...।"

रोती हुई सत्यभामा उनके चरणों पर गिर पड़ी। लेकिन वह इतने उद्विग्न, इतने उत्तेजित थे कि उस ओर देख तक नहीं सके। शून्य में खोये-खोये खड़े रहे।

... ...

बलराम कृष्ण को बहुत प्यार करते थे। आदर भी करते थे। सत्यभामा कृष्ण की प्रियतमा थी। परन्तु जो दूसरे यादव थे, जो मणि को अपने-अपने गलों में सुशोभित देखना चाहते थे, जो तनिक-सा अवसर आने पर कृष्ण को लांछित करने में नहीं चूकते थे, उन्होंने इस अवसर का पूरा लाभ उठाया। द्वारका की राजसभा में, सामन्त-भवनों में, गोष्ठियों में,

रात-दिन यही चर्चा होने लगी। मदोन्मत्त होकर यादव वीर होड़ लगाते—

"मणि कृष्ण ने ही ली है। वह महाधूर्त है।"

कोकिल कण्ठी यादव-रमणियां स्वर्ण हारों से खेलती, मणियों के कुण्डलों को हिलाती, मादक-मुस्कान बिखेरती, कोमल स्वर में व्यंग्य करती—

"नहीं, नहीं, कृष्ण चोर नहीं है। मणि उन्होंने छिपा दी है। जन्म के छलिया हैं।"

और तब गोष्ठी-भवन एक नग्न हास्य से आन्दोलित हो उठता। लेकिन जो गम्भीर थे वे मूछों पर ताव देते—

"कृष्ण वीर है, चतुर है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसे हमारा अपमान करने का भी अधिकार है।"

"हम अपमान का प्रतिशोध लेंगे।"

"हम उसे पदच्युत कर देंगे।"

लेकिन यह वारुणी का स्वर था। उनके आगमन का समाचार पाते ही वीरवर कृतवर्मा घर छोड़कर भाग गये। स्वयं उनके परम मित्र आपत्काल के राष्ट्र-नेता अक्रूर भी अज्ञात वास में थे और महावीर शतधन्वा उनके द्वारा मारा जा चुका था। उसी कृष्ण को ये विलासी यादव पदच्युत करना चाहते थे। कृष्ण बड़े चिन्तित थे। उन्हें कठोर शब्दों की चिन्ता नहीं थी। अपनी सम्पदा का बहुत बड़ा भाग वह उन्हें दे चुके थे। परन्तु वह डरते थे गृह-कलह से। इसीलिए उन्होंने माता देवकी से कहा, "मां तुम्हीं बताओ अब मैं क्या करूं ?"

देवकी परिस्थिति को पहचानती थी। बोली, "कुछ तो करना ही होगा, कृष्ण।"

"करने को मैंने कुछ नहीं उठा रखा है, मां। यह भी जानता हूं कि मणि किसके पास है।"

विस्मित-चकित देवकी ने व्यग्र कण्ठ से पूछा, "किसके पास है ? तुमने अबतक बताया क्यों नहीं ?"

कृष्ण उसी तरह शान्त गम्भीर स्वर में बोले, "बताता कैसे, मां! मणि चाचा अक्रूर के पास है।"

"अक्रूर!" देवकी और भी विस्मित थी। "अक्रूर भी ऐसा कर सकता है!"

"किसने क्या नहीं किया, मां। चाचा आनन्द के प्रयाग में तीर्थ-वास कर रहे हैं। कई बार बुला चुका, आते ही नहीं।"

"आना पड़ेगा, कृष्ण। तू मेरी ओर से सन्देशा भेज कि मुझे वह दिन नहीं भूला है जब तुम मेरे राम और कृष्ण को वृन्दावन से ले आये थे। उसी दिन की याद दिलाकर मैं कहती हूं कि एक बार फिर राम और कृष्ण को बचाने के लिए तुम्हें द्वारका आना होगा।"

सत्य ही, यह सन्देश पाकर अक्रूर नहीं रुके। वह द्वारका लौटे। कृष्ण के मानो प्राण लौटे। उन्होंने तुरन्त यादव-संघ की जनसभा को आमंत्रित किया। लगभग सभी प्रमुख अन्धक और वृष्णि-वीर उपस्थिति थे। बलराम भी विदेश से लौट आये थे। उनका सन्देह अब भी बना हुआ था। और वह समस्त संघ के साथ उत्सुक हृदय से कृष्ण की ओर देख रहे थे कि कृष्ण उठे। उस समय उनका उज्ज्वल शान्त गम्भीर मुख अद्‌भुत रूप से आकर्षक लग रहा था। उनकी बलिष्ठ मांसल भुजाएं केयूरों के बन्धन में फंसकर और भी सुडौल हो उठी थीं। विशाल वक्षस्थल पर स्वर्ण हार और पुष्प-मालाएं सुशोभित थी। उत्तरीय वस्त्र को उन्होंने ढीला कर लिया था। उनकी वाणी गम्भीर किन्तु प्रखर थी। वह बोले, "यादव वीरो! आप जानते हैं कि इधर सत्राजित की स्वयमंत्तक मणि को लेकर संघ में कितना वैमनस्य बढ़ चला है। अनेक वीरों का विश्वास है कि मणि मैंने ली है। मानता हूं, इस शंका के कारण हैं। मणि शतधन्वा ने ली थी और उसे मैंने मारा था। तब मैंने मणि नहीं ली तो किसने ली। मैं उसी व्यक्ति की तलाश में था। मुझे प्रसन्नता है, आज उस व्यक्ति को पा गया हूं। कहूंगा, कृपाकर वह व्यक्ति स्वयं मेरे पास आ गये हैं...।"

समस्त संघ भूकम्प से आलोड़ित हो उठा, "कौन है वह व्यक्ति!

कौन...!"

कि कृष्ण सहसा महामति अक्रूर की ओर मुड़े, "चाचा ! जानता हूं मणि आपके पास है। यह भी जानता हूं, आपने उसे चुराया नहीं है। गृह-युद्ध से यादव-संघ की रक्षा करने के लिए उसे आप अपने पास रखे हुए हैं। पर अब मेरा कलंक दूर करने के लिए वह मणि संघ के सामने उपस्थित कर दीजिये।"

सभा की उत्सुकता चरम सीमा पर थी। सुगन्धित धूम्र के हल्के बादलों से परिवेष्ठित वेदी पर स्थित कृष्ण को सबने एकसाथ देखा और देखा उस परम दैदीप्यमान रत्न को जिसे अक्रूर ने अभी-अभी निकालकर वेदी पर रख दिया था। सबके मस्तक लज्जा से नत हो गये। क्षण-मात्र के लिए संघ में मृत्यु का मौन मुखरित हो उठा। बलराम ने कृष्ण को देखा। आंखों से आंखें मिलीं। नेत्र डबडबा आये। निमिष मात्र को उन्होंने आंखें मींच लीं। महावीर हलधर के नयनों से दो बूंद जल उनके मुख की लज्जा को धोता हुआ आसन पर टपक पड़ा। मानो उन्होंने अपने अपराध की क्षमा चाही। तबतक महामति अक्रूर बोले, "यादव वीरो ! शतधन्वा जब भागे तो इस मणि को मेरे पास फेंक गये थे। उस समय यादव-संघ में, विशेषकर अन्धक और वृष्णियों में, एक भयंकर संघर्ष पैदा होने की सम्भावना थी, क्योंकि सत्राजित की मृत्यु में मेरा हाथ भी समझा जाता था। ऐसी अवस्था में द्वारका में मेरा रहना गृह-युद्ध का कारण हो सकता था, इसीलिए मैं चला गया था। अब तीर्थाटन करके लौटा हूं। मणि आपके सामने है।"

और फिर कृष्ण की ओर मुड़कर बोले, "हे कृष्ण ! मणि की मुझे तनिक भी चाह नहीं है। आप जो चाहें करें। अधिकार से यह आपकी है। इसके कारण आपको जो कष्ट हुआ उसके लिए मैं खेद ही प्रकट कर सकता हूं।"

इतना कहकर अन्धक वीर महामति अक्रूर अपने आसन पर बैठ गये। सभा में अब एक नई उत्सुकता जाग उठी, "मणि किसे मिले ? उग्रसेन, वसुदेव, बलराम, प्रद्युम्न, सात्यकि, सुकुमार आदि सभी प्रमुख यादवों ने एकसाथ सोचा कि मणि मुझे मिलेगी, क्योंकि मैं अन्धक कुल का नेता हूं,

क्योंकि मैं पिता हूं, मैं भाई हूं, मैं परम सुन्दर हूं, मैं प्यारा सखा-हूं, मैं महाबली हूं...लेकिन कृष्ण अब परम शान्त थे। चिर-परिचित मधुर मुस्कान-मंडित उनका मुख परम सुन्दर लग रहा था। उन्होंने कहा, "यादव-संघ के सभासदो ! अन्धक और वृष्णि वीरो ! आप मुझसे सहमत होंगे कि यह मणि योग्यतम व्यक्ति को मिलनी चाहिए। और संघ में योग्यतम कौन है, यह भी आप जानते हैं।"

सभा में फिर हलचल मच गई। योग्यतम कौन ? उग्रसेन, बलराम, आहुक, सात्यकि, प्रद्युम्न...!

कृष्ण बोलते रहे, "आप वे दिन नहीं भूले होंगे जब यादव-कुल पर विपत्तियों के बादल मंडरा रहे थे। हमारा ऐश्वर्य, हमारी सम्पदा, हमारी शक्ति नष्ट हो चुकी थी। हमारा पौरुष बेकार था, हमारी बुद्धि कुंठित थी। संघ महानाश की ओर अग्रसर हो रहा था और मामा कंस उसका काल बन चुके थे। ऐसे समय में केवल एक वीर पुरुष था, जिसने उसके अत्याचार के विरुद्ध अपनी एकाकी वाणी बुलन्द की। उस वीर ने साम, दाम, दण्ड, भेद से कंस से लोहा लिया और यादव-संघ को तबतक जीवित रखा जबतक वह स्वयं जाकर भैया बलराम और मुझे वृन्दावन से नहीं ले आये। वह वीर और विज्ञ पुरुष आज आपके सामने उपस्थित हैं।"

कृष्ण क्षण-भर के लिए रुके। उस क्षण में सबकुछ स्पष्ट हो गया। कृष्ण ने कहा, "आप सब उन्हें जानते हैं। वह महात्मा अक्रूर हैं। मैं उन्हें प्रणाम करता हूं। वह इस रत्न को ग्रहण करें।"

यह कहकर नीतिज्ञ कृष्ण वेदी से उतरे और मणि को बड़े प्रेम से अक्रूर के गले में पहना दिया। तब सबकुछ भूलकर यादव वीर चिल्ला उठे, "यदुकुल सूर्य श्रीकृष्ण की जय।"

रात की रानी और लाल गुलाब

'रात की रानी' के पत्ते पीले पड़ने लगे थे और भीनी गन्ध से भरी उसकी मंजरी जैसे अब सपनों के देश में जाने की तैयारी कर रही थी। कैंची लेकर मैं उसकी फैली हुई भुजाओं को काटने लगा, उसे फिर से पल्लवित-पुष्पित करने के लिए। सहसा मन के किसी कोने में सोई हुई कोमलता जाग उठी—यह कैसा सत्य है कि क्रूरता में से मृदुलता और विनाश में से नव-जीवन का उदय होता है कि तभी पड़ौस की दीवार के पीछे से किसीने सिर उठाकर कहा, 'ओह, आपको फूलों का शौक है। लेकिन भाई जान, फूलों के साथ कांटे भी रहते हैं और इस 'रात की रानी' को देखिये, रूप का इसमें संकेत भी नहीं है, लेकिन इसकी गन्ध ! नहीं जानता इससे बढ़कर मोहक-मादक गन्ध इस विश्व में है या नहीं। सुध-बुध सचमुच खो जाती है।"

मैंने सहसा उनकी ओर देखा। मुख पर सौम्यता, आंखों में दीप्त प्रकाश, गौर वर्ण; सौन्दर्य और क्या होता है। मुस्कराकर कहा, "आप ठीक कहते हैं। सुगन्ध के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि उसका आवरण भी सुन्दर हो। आप शायद इस मकान में अभी आये हैं ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "जी हां ! चार-पांच दिन हो गये। रोज आपको काम करते देखता था, लेकिन आपकी तन्मयता भंग करने को मन नहीं चाहा।"

मैंने कहा, "नहीं, नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। बातें करना मुझे भी अच्छा लगता है।"

वह जैसे हँस आये। क्षण-भर 'रात की रानी' के पास रखे हुए रक्त-वर्णी गुलाब को देखते रहे। उद्दाम-यौवन से उन्मत्त एक पुष्प, आगत भविष्य

की सुगन्ध से मोहित दो-तीन कलियां, वह बोल उठे, "यह गुलाब कितना सुन्दर है परन्तु सुगन्ध से एकदम वंचित है।" कहते-कहते उनकी आंखों में एक छाया उठी, एक छाया मिटी। क्षण के सहस्रवें भाग में यह सब हो गया। प्रफुल्लित हो बोले, "आपने अभी क्या कहा था, आपको बातें करना अच्छा लगता है। तब तो भाई जान, आपकी और हमारी खूब निभेगी।" और हँस पड़े, "अच्छा, आप अपनी वाटिका को संभालिये, मैं भी तनिक अपने संसार की सार-संभाल कर आऊं।"

वह जैसे आये थे वैसे ही लौट गये। न जाने पुष्पा कब पास आकर खड़ी हो गई थी। बोली, "यह आपके पड़ौसी बड़े विचित्र जीव हैं। बड़े घर के बेटे हैं। मां-बाप के पास मान, धन किसी वस्तु की कमी नहीं है। लेकिन..."

"लेकिन..."

"लेकिन सबकुछ त्याग चुके हैं।"

"त्याग चुके हैं ? ओह, तभी।"

पुष्पा ने पूछा, "तभी क्या ? कुछ मनोविज्ञान का प्रयोग करने का विचार है ? लेकिन उसकी आवश्यकता नहीं, बहुत भले आदमी हैं और बच्चों से भी बहुत स्नेह करते हैं। सच तो यह है कि वह स्नेह ही करना जानते हैं। अभी पांच ही दिन तो हुए हैं, मुहल्ले भर के बच्चे उनको घेरे रहते हैं। और वह सुनाते रहते हैं उनको कहानियां, ऐसी कहानियां जो हम जैसों को भी रस-सिक्त कर देती हैं।"

मैंने कहा, "तब तो खतरा है।"

पुष्पा बोली, "हां, खतरा है, लेकिन किसी और को।"

मैं हँस पड़ा, "घबराइये नहीं, मुझे आपपर पूर्ण विश्वास है।"

पुष्पा सहसा उदास हो आई। जैसे कृष्ण वर्णी कोई शिशु-मेघ चन्द्रमा के ऊपर से होकर चला गया। व्याकुल मन मैंने पूछा, "क्या हुआ, पुष्पा ?"

एक दीर्घ निश्वास लेकर पुष्पा बोली, "बेचारे।"

"पुष्पा। क्या बात है ?"

पुष्पा ने कहा, "इनकी पत्नी बहुत ही सौम्य, सुशील और उदार है।"

मैं हत्प्रभ बोल उठा, "तो क्या तुम चाहती थीं कि वह..."

बहुत धीमे-से वह बोली, "सुनो तो, हृदय जितना विशाल है, रूप उतना ही कुरूप है।"

जैसे मलयानिल वायु के प्रकोष्ट में रौरव की झंझा भर उठी। एकाएक उत्तर न दे पाया। लेकिन तभी मेरी दृष्टि उनके खुले आंगन की ओर गई तो क्या देखता हूं कि पड़ौसी मुक्त मन से हँस रहे हैं, हँसे जा रहे हैं।

फिर किसीसे कोई बात नहीं हुई परन्तु दिनभर उनका वह मुक्त हास्य मेरे मन को मथता रहा, विचलित करता रहा। सन्ध्या को उत्सुकता लिये घर लौटा तो मार्ग में एक मित्र मिल गये। बोले, "प्रकाशबाबू, आप रोहित-बाबू से मिले हैं?"

"कौन रोहितबाबू?"

"अरे आप नहीं जानते, आपके नये पड़ौसी? सच भाई, क्षण-भर में किसीको भी ऐसा बना लेते हैं जैसे युग-युग से परिचित चले आ रहे हों।"

दूसरे मित्र बोले, "बाल-मनोविज्ञान के तो वह विशेषज्ञ हैं और हृदय उनका इतना विशाल है कि जैसे थाह ही न मिलती हो। किसीपर कष्ट पड़ा नहीं और रोहित वहां पहुंचे नहीं। राकेशबाबू की माताजी की कल तबीयत बहुत खराब थी और घर पर कोई नहीं था। सारा दिन और सारी रात वह उनके सिरहाने बैठे रहे जैसे वह उनकी अपनी ही मां हों।"

कहते-कहते उन मित्र का कण्ठ भर आया और साथ ही भीग आई हम सबकी आंखें। फिर तो प्रतिदिन मैं यही सुनता था, "रोहितबाबू ने मेरे बच्चे को ताल में डूबने से बचाया। रोहितबाबू किशोर के भाई को तुरन्त अस्पताल ले गये। वह कार के नीचे आ गया था। रोहितबाबू ने दीनू की लड़की की परीक्षा-फीस के लिए रुपये दिये। रोहितबाबू ने यह किया, रोहितबाबू ने वह किया, रोहितबाबू बड़े कुशल डाक्टर हैं।" इत्यादि... इत्यादि...

मुझे बड़ा अचरज हुआ। मैंने पुष्पा से पूछा था, "क्या रोहितबाबू डाक्टर हैं?"

पुष्पा बोली, "हां, नियमानुसार कालेज में रहकर प्रथम श्रेणी में डाक्टर की डिग्री ली है, लेकिन बने हैं एजेन्ट।"

मैं कुछ कहूं कि इससे पहले ही रोहितबाबू ने 'रात की रानी' के पास से झांकते हुए कहा, "मिस्टर प्रकाश, सुनिये तो।"

देखा, एक सुन्दर डलिया में बढ़िया-बढ़िया अमरूद लिये वह खड़े हैं। बोले, "मिस्टर प्रकाश, कल ही इलाहाबाद से आये हैं। और तुम जानते हो कि इलाहाबाद के अमरूद...

मैंने कहा, "आप क्यों कष्ट कर रहे हैं ?"

वह हँस पड़े, "कष्ट...अरे भाईजान ! पिताजी ने भेजे, रेल यहांतक ले आई और अब पत्नी की आज्ञा हुई कि आपको दे आऊं। हां, वहां से उठाकर यहां आपको देने तक का कष्ट अवश्य हुआ है। सो विश्वास रखिये कि किसी दिन व्याजसहित चुका लूंगा।" फिर जोर-से हँस पड़े, "भाई-जान ! जनतन्त्र का युग है, लेकिन स्वभाव अभी हमारा सामन्ती ही है। अब देखिये, इलाहाबाद का अमरूद ही मुझे बहुत पसन्द हो यह नहीं, सन्तरा नागपुर से मंगाता हूं और आम जबतक बम्बई से लंगड़ा न आये तबतक मन ही नहीं भरता। और आम तो मैंने मैसूर में खाये। ओफ हो ! बादाम-पाक का रस अबतक मुंह में घुला हुआ है। सेव मुझे काश्मीर और कुल्लू दोनों के पसन्द हैं। भाईजान ! एजेण्ट इसीलिए बना हूं। कन्याकुमारी से लेकर ठेठ हिमालय में गोमुख तक घूम आया हूं। और उस मार्ग का क्या वर्णन करूं। स्वर्ग का कहीं वर्णन हो सकता है !"

फिर भी वह बहुत देर तक प्रकृति के रूप-सौंदर्य का वर्णन करते रहे और मैं मुक्त होकर उनकी ओर देखता रहा, सुनता रहा। सोचता रहा, यह असाधारण व्यक्ति क्या सचमुच ही असाधारण है। और तभी अचानक एक दिन पुष्पा मुझे उनकी गृहस्थी की कहानी सुना बैठी।

मैं तब सोने का उपक्रम कर रहा था तो पुष्पा धीर-गम्भीर स्वर में बोली, "रोहितबाबू ने ऐश्वर्य को लात मारकर हेम को संभाला है, क्या यह बात आश्चर्यजनक नहीं है ?"

फिर जैसे वह क्षणभर के लिए रुक गई, जैसे मुझसे कुछ सुनना चाहती हो। लेकिन मैं तो स्वयं सुनना ही चाहता था। सो उसकी ओर देखता बैठा रहा। यह बोली, "रोहित एक बहुत बड़े परिवार का लड़का है और जैसा कि होता है, उस बहुत बड़े परिवार की छाया में एक छोटा-सा परिवार भी पलता था। उस परिवार की विवाह योग्य बड़ी कन्या कुरूपता की साक्षात प्रतिमा थी। इसी कारण वह परिवार उस कन्या को लेकर बहुत चिन्तित हो उठा। और आप जानते ही हैं कि एक की चिन्ता दूसरे की मखौल का कारण बन जाती है। ऐसे सलाहकारों की कोई कमी नहीं थी जो बार-बार दीर्घ निश्वास खींचकर कुटिल निश्चय के साथ सहानुभूति प्रकट किया करते थे और कहते रहते थे कि इसका विवाह होना बड़ा कठिन है। लेकिन हिन्दू कन्या का विवाह तो होता ही है। आप चिन्ता न कीजिये, मेरे एक मित्र हैं। बस उनमें एक ही दोष है, यदि आप उसे दोष मानें तो, उनकी आयु पचास के आसपास है और उनके चार-पांच बच्चे भी हैं। लेकिन आप जानते हैं कि आजकल...।

एक दूसरे सज्जन कहते, "मेरे एक मित्र हैं कृष्ण वर्ण, देखने में बहुत अच्छे नहीं लगते। लेकिन बहुत ही सुशील और सहृदय हैं। और आप जानते हैं कि पुरुष का रूप किसने देखा है। बस किसी रोग में उनकी एक आंख जाती रही।"

इसी प्रकार बहुत-से शुभ-चिन्तक बहुत-सी बातें करते। लड़की सुनती और व्यथा से टीस उठती। समय पाकर वही व्यथा घृणा में परिणत हो गई। अपने से घृणा। लेकिन उसका दुर्भाग्य। यह अधिकार भी उसे नहीं था। उसके माता-पिता कन्यादान के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थे, इसीलिए उन्होंने अधेड़ उम्र के व्यक्ति को अपनी मुक्ति के लिए चुना। अग्निप्रदीक्षणा तक सबकुछ ठीक होता रहा। लेकिन जैसे ही कन्या की पुकार हुई वर पक्ष-वालों ने कहा, "हम कन्या का मुख देखेंगे।" अनभ्र वज्रपात! कन्या आधे मार्ग से ही अन्दर लौट गई। समझौते की अनथक कोशिशों के बावजूद भी वह विवाह न हो सका। अग्नि व्यर्थ ही धधकती रही, तभी सहसा कन्या-

पक्ष की ओर से एक युवक बोल उठा, "वर महोदय, आपने अपना मुख भी दर्पण में देखा है ?"

यह अग्नि में घी की आहुति देना था। वर-पक्षवाले विवृत हो उठे। कन्या-पक्षवाले शायद इसके लिए तैयार न थे। लेकिन वे कुछ कर सकें इससे पूर्व ही वर की ओर मुड़कर उस युवक ने कहा, "मैं कहता हूं, आप जितनी जल्दी यहां से जा सकें चले जाइये।" वर जैसे विस्मतविमूढ़ सहम गया हो। युवक का आक्रोशभरा स्वर और भी उत्तेजित हो उठा, "आप जा नहीं रहे हैं क्या? क्या एक-एक का कान पकड़कर बाहर निकालना होगा।"

उस समय कन्या की क्या स्थिति थी, न जाने किस आशा के आधार पर अभी नाड़ी धड़क रही थी कि सहसा उस युवक ने फिर कहा, "पंडित-जी आपको जाने की आवश्यकता नहीं है। मन्त्र पढ़िये, वर मैं हूं।"

आगे पुष्पा को कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं रही। मैं सहसा चिल्ला उठा, "तो रोहित ने इस प्रकार हेम को पाया है। आवेश और आदर्श के चक्रव्यूह में फंसकर मां-बाप का प्रेम, जीवन का ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा और प्रभाव, सबका उसने तिरष्कार किया है, केवल अपने उस क्षणिक उद्वेग की रक्षा के लिए।"

पुष्पा जैसे कुछ समझी नहीं, द्रवित, कोमल स्वर में बोली, "हेम बार-बार इस कहानी को कहती है और रो पड़ती है--'सखी, जी में आता है कि सदा उन्हें पलकों में बिठाये रखूं।'"

लेकिन मैंने अब उसकी बातों में रुचि नहीं ली। मुझे यह सब अच्छा नहीं लगा और मैंने निश्चय किया कि कल रोहित से बातें करूंगा।

लेकिन वह कल नहीं आई। रोहित उसी रात को बाहर चले गये थे।

फिर कई दिन बीत गये, वह नहीं लौटे। न जाने क्यों मैं चिन्तित हो उठा पर हेम तो एकदम आश्वस्त थी, "वह तो जाते ही रहते हैं। लौट आयेंगे।" मैंने पाया कि आसपास के बालक अब भी सदा की तरह उनके घर में जाते हैं और उनको न पाकर लौट आते हैं। एक दिन क्या देखता हूं उन्हीं बालकों में से एक के हाथ में एक कापी है। अनायास ही मैंने उस

कापी को खोलकर देखा। ठगा-सा रह गया।

वह रोहित की डायरी थी। मैंने उसे पढ़ना चाहा। लेकिन तभी सहसा जैसे वह स्वयं बोल उठा हो, "भाईजान! जीते-जी किसीकी डायरी पढ़ना पाप है।"

और मैंने उस डायरी को छिपाकर रख दिया। लेकिन मेरी अवस्था उस चोर जैसी थी जो चोरी का माल अपने घर में रखे रहता है। परिणाम-स्वरूप प्रति-क्षण मेरे अन्तर का द्वंद्व बढ़ने लगा। और एक क्षण आया जब वह मेरे लिए असह्य हो उठा। तब मन के सब बन्धन छिन्न-भिन्न करके मैंने उस डायरी को पढ़ना शुरू किया।

"७ जनवरी, १९३५––आज फिर उद्विग्न हो उठा हूं। रुदन जैसे मेरे अन्तर को दाह से भर रहा है। जैसे अपने से ही घृणा करने लगा हूं। जानता हूं, सालभर पहले जो कुछ घटित हुआ उसका दायित्व मुझपर ही है। लेकिन न जाने रह-रहकर क्यों मन में उठ आता है कि मेरी शैय्या पर निर्द्वन्द्व होकर सोई हुई इस कुरूपा का गला घोंट दूं। सच कहता हूं, कई बार कांपते हुए हाथों को उसके कण्ठ तक ले भी गया हूं। लेकिन जैसे उसकी कुरूपता ही उसका कवच बन गई हो। छिः! इस कुरूपा की हत्या करके अपने हाथों को कलंकित करूं। इस कुरूपा के लिए मैंने ऐश्वर्य और संपदा का बलिदान किया, क्या इस कुरूपा के लिए मैं अपने जीवन का भी बलिदान करूं? छिः।"

... ...

"८ जनवरी, १९३५––कल न जाने किस अज्ञात ने मेरा हाथ थाम लिया, पाप होते-होते रह गया। पाप क्या है? कुरूपता इस संसार में क्यों है? प्रेम और सौंदर्य की तुलना में इनका मूल्य क्या है? जो कुरूप हैं वे आत्म-हत्या क्यों नहीं कर लेते? उन्हें क्या अधिकार है कि वे सौंदर्य और रूप के संसार में अशान्ति की आग प्रज्ज्वलित करें?"

... ...

"९ जनवरी, १९३५––मैंने निश्चय कर लिया है कि हेम को त्याग

दूंगा। अब और अपने-आपको धोखा नहीं दे सकता। मानता हूं कि वह मुझसे प्रेम करती है, बहुत प्रेम करती है। लेकिन उपकारकर्ता के प्रति प्रेम क्या 'सच्चा प्रेम' होता है? मैंने उसपर दया की है, और दया करना पाप है। नहीं अब मैं और दया नहीं करूंगा, नहीं करूंगा।"

... ...

"१० जनवरी, १९३५——मैं आज नहीं, कल जाऊंगा। एक आवेश का यह परिणाम है। आवेश में आकर फिर कुछ करूंगा तो न जाने क्या होगा।"

... ...

"१३ जनवरी, १९३५——पांच दिन हो गये इस धर्मशाला में, लेकिन अब और नहीं। कल आगे बढ़ चलूंगा, बढ़ता चला जाऊंगा। कभी न रुकने के लिए। हेम विश्वास किये बैठी होगी कि मैं दो-तीन दिन में लौट आऊंगा। लेकिन नहीं, मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं इस बार नहीं लौटूंगा। हेम कैसी भोली है, कहती है, 'तुम मेरा त्याग नहीं कर सकते। तुम परमात्मा हो।' हूं 'परमात्मा'! शब्दों का यह कैसा मायाजाल है? किस आलजाल में मनुष्य अपनेको फंसाये रहता है। नहीं, नहीं, मैं अब और अपनेको पराजित नहीं होने दूंगा। मैं जाऊंगा। वह सिर पटक-पटककर मर जायगी। उसे मर ही जाना चाहिए।"

... ...

"१४ जनवरी, १९३५——न जाने क्यों मन ग्लानि से भरा जा रहा है। न जाने क्यों मैं अपने में सिकुड़ता जा रहा हूं, विवश होता जा रहा हूं, क्या मैं हेम को क्षमा नहीं कर सकता? क्या मैं फिर उसके पास नहीं लौट सकता? लेकिन क्षमा का प्रश्न ही नहीं उठता है? उसने कोई अपराध कहां किया है? अपराध मेरा है, हां, अपराध मैंने किया है। अपराधी मैं हूं।"

... ...

"१५ जनवरी, १९३५——मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं घर जाऊंगा। मां मुझे देखकर कितनी खुश होगी। अपने आंचल में छिपा लेगी। ओह!

उस कुरूपा के लिए मैंने अपनी स्नेहमयी मां का त्याग किया। नारी निश्चय ही जादूगरनी है। पुरुष को जाल में फंसाने के न जाने कितने मार्ग वह जानती है।...नहीं, नहीं, यह गलत है। इसमें उसका कोई अपराध नहीं है। अग्नि को साक्षी करके मैंने ही उसका हाथ पकड़ा है, घोषणा करके मैंने उसको स्वीकार किया है। मैं दूसरे के रूप को देखता हूं, अपनी कुरूपता को नहीं देखता। मेरे अन्तर में रह-रहकर यह कैसी कुरूपता उभर उठती है?"

... ...

"१६ जनवरी, १६३५—मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं आज हेम के पास लौट जाऊंगा।"

... ...

पांच महीने बाद :

"६ जून, १६३५—आज मैंने उसे और भी पास से देखा। सचमुच वह कितनी सुन्दर है? यह सौंदर्य अबतक कहां छिपा रहा?"

... ...

"७ जून, १६३५—आज मैंने उसे और भी पास से देखा। वह कितनी असुन्दर है। मन सहसा ग्लानि से उमड़ आता है जैसे अन्तर का सबकुछ बाहर आना चाहता है। छिः! छिः! मैं इतने दिनों तक उसके साथ कैसे रह सका? इस नाबदान में कैसे अमृत की कल्पना करता रहा?"

... ...

"८ जून, १६३५—अभी क्लब से लौटा हूं। जैसे एक नया संसार आंखों में समा गया है। मैंने उस युवती को अबतक क्यों नहीं देखा? यौवन और सौन्दर्य दोनों मेरे पास हैं, सम्पदा भी है। एक युवती को और क्या चाहिए? वह स्वयं भी कितनी सुन्दर है। शृंगार के पुष्प जैसा उसका रूप, जैसे मदिरा का छलकता प्याला हो। उसके कुन्तल केश जैसे स्नेह की रश्मियां हों। आज वह कैसे मेरे पास आई, कैसे मुग्ध मन से उसने मुझसे पूछा, 'आप इतने उन्मुक्त कैसे हैं? मुझे आश्चर्य होता है!' मैंने उसे

उत्तर दिया, 'मानव को पाने के लिए उन्मुक्त होना ही पड़ता है।' वह अनायास बोल उठी, 'मैं भी यही मानती हूं। मैं भी उन्मुक्त होना चाहती हूं।' मैंने मुस्कराकर उत्तर दिया, 'तुम तो स्वयं उन्मुक्तता की मूर्ति हो। तुम्हारा कहीं कुछ भी आवरण के भीतर नहीं है।' उसने प्यार से मेरा हाथ दबा दिया। ऐसे लगा जैसे मैं उसको अपने में समेट लूं।

"नहीं, नहीं, मैं उसको नहीं जाने दूंगा। हेम चाहे रहे, चाहे जाय, उसको मैं धन दूंगा। लेकिन अपनेको नहीं दे सकता, नहीं दे सकता।"

... ...

"६ जून, १९३५--हेम आज कुछ और और सी लग रही थी। उसकी आंखों में उदासी थी। बोली, 'आप कहीं चले जाइये।'

"मैं हँस पड़ा, 'क्यों ?'

"वह बोली, 'यों ही, आपको जाना चाहिए। मैं जानती हूं कि आपका जाने में ही कल्याण है।'"

... ...

"१० जून, १९३५—रात के समय मेरे चरण दबाते हुए उसने कहा, आपके मुख पर यह कैसे चिन्ता के भाव मंडराते रहते हैं? आपका उल्लास जैसे छिन्न-भिन्न हो गया है। आज की अंधियारी रात हम दोनों को अपने-आपमें छिपाना चाहती है।'

"मेरा अन्तस जैसे तूफान की गति से धधक-धधककर उठा। मैंने कांपते स्वर में कहा, 'हेम तुम मुझे छुट्टी दे सकती हो ?'

"कहकर मैं हत्भाग्य उसकी ओर ऐसे देखने लगा जैसे मैंने कोई पाप किया हो। लेकिन वह मुस्कराई, 'क्यों नहीं ? आपके लिए कुछ भी करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी, केवल कहना भर होगा।'

"जैसे झटका लगा, मैं उठा और मैंने उसके चरण पकड़ लिये, 'मुझे क्षमा कर दो, क्षमा कर दो।'

"न जाने यह सब कैसे हुआ ? कब मैं गिरा और कब उसने मुझे अपनी गोदी में लिटा लिया। केवल कोमल-कम्पित स्वर में इतना ही बोली, 'पाप

की छाया भी तुम्हें छू नहीं सकती। पाप और पुण्य के संसार से तुम बहुत परे हो।'

"ओह ! वह कितनी सुन्दर है।"

... ...

डायरी यहीं आकर समाप्त हो गई। और उद्वेलित-उत्तेजित मेरी विचारधारा समुद्र की उत्ताल तरंगों की तरह मुझे मथने लगी। ज्वार अपने पूरे यौवन पर उमड़ उठा। मैंने मन-ही-मन कहा, "तो यह हैं रोहित-बाबू। एक दुर्बल इन्सान...कायर...। तभी सहसा पुष्पा जाग पड़ी, बोली, "क्या है, प्रकाश ? अभी सोये नहीं ?"

मैंने उत्तर दिया, "अभी-अभी एक स्वप्न देखा है।"

"अच्छा, सो जाओ।"

पुष्पा उनींदी थी। जानने का आग्रह उसने नहीं किया। यन्त्रवत् मुझे अपनी बाहों में लपेटते हुए वह न जाने कहां खो गई। मैं भी दूर, बहुत दूर भटक गया। और जब मैंने अपने-आपको फिर जगते पाया तो देखता हूं, पड़ोस के घर से वह अन्तहीन हास्य चारों ओर बिखरता आ रहा है और 'रात की रानी' के पीछे से रोहितबाबू सदा की तरह उन्मुक्त कह रहे हैं, "प्रणाम भाईजान। कैसे हैं ?"

जीवन में पहली बार जैसे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं आया। कहा, "अरे आप कहां चले गये थे, रोहितबाबू ?"

उत्तर दिया, "कहां चला गया था, भाईजान। आप तो ऐसे कह रहे हैं जैसे भाग गया होऊं। जाना तो मेरा काम है। मेरी जीविका है।" फिर एका-एक धीरे-से बोले, "हां इस बार कुछ अधिक समय लग गया, अच्छा नहीं हुआ। अब काफी दिन बाहर जाने की इच्छा नहीं है।" और आपकी 'रात की रानी' आजकल खूब फूल रही है। रात इसकी गन्ध से हम महक उठे।

फिर मैंने कुछ नहीं पूछा। लेकिन तबसे उनकी डायरी चुराने के प्रयत्न में हूं। देखो कब सफलता मिलती है।

●

आरम्भ

सरदी की सन्ध्या को इन्द्रदेव कुपित हुए। जाना, कहीं कृष्णावतार की पुनरावृत्ति हुई और तभी जी में उठा भी कि किसी वैयाकरण से पूछना चाहिए—क्यों जी ! सृष्टि-समारोह नामक महाकाव्य में इस आवृत्ति का क्या अपवाद-लक्षण है। लेकिन यह सब करने का अवसर आया ही नहीं, क्योंकि पड़ोस के गजाधरबाबू ने श्रुति-सम्मत स्वर में इस बात की घोषणा कर दी—बंगाले की खाड़ी में जो मानसून उठी थी, उसकी प्रसव-वेदना कुछ देर मे हुई। इस कारण इस बार वरुणदेव बरसात के ठीक समय पर अवतरित न होकर शरत्कालीन मेघों के संग धराधाम पर उतरेंगे।

आंख मींचकर हमने इस तर्क-सम्मत गवेषणापूर्ण वक्तव्य को स्वीकार किया, मानो ठीक उसी तरह, जैसे रात्रि के प्रथम पहर में नानी या दादी अनन्य श्रद्धालु नाती या नातिन को पास बैठाकर कहे—सुनो बेटा ! एक था राजा।

हां ! हां ! था। कहे चलो—

और ऐसे ही हमने माना—हां, हां, साहब ! इस बार मानसून की प्रसव-वेदना देर में हुई। ठीक, आगे—

पर हमने जाना था, हमारा सिद्धान्त तर्क-सम्मत है, सो स्वीकार करने में आपत्ति होनी ही नहीं चाहिए, तो भी दिल में एक शंका उठी—क्यों जी ! द्वापर के अन्त में जब वह शरीरहीन परमात्मा जेल में जन्मा और खेल-खेल में ही देवराज इन्द्र का अपमान कर बैठा, इन्द्रदेव भी उस बालक से भिड़ने के लिए दल-बादल के संग उठ धाये, तब गजाधरबाबू या अन्य बाबू गण के पितरगण कहां थे। शायद उनकी प्रसव-वेदना किसी काल के

लिए ब्रिटिश-राज्य के समान किसी तत्कालीन राज्य के ग्रार्डिनैन्स द्वारा बन्द कर दी गई थी !

कुछ भी हो, ऐसी कल्पना करने के कारण हमारे पास मौजूद हैं, क्योंकि जब मेह ने थमने का नाम ही नहीं लिया तो दादी ने सी-सी करते हुए अपने पंचवर्षीय नाती को सुनाकर कहा, "मन्नु, ओ मन्नु ! राजा की कहानी कहूंगी, आता है ?"

कहानी ! और वह भी अपने-आप ! मन्नु चौके-बासन में व्यस्त मां की पीठ छोड़कर भाग खड़ा हुआ, "आहा जी ! आहा जी ! अम्मा राजा की कहानी कहेगी।" और मिट्टी के लिथड़े पैरों सहित सफेद चादर को पद-चिह्नों से अंकित करता हुआ लिहाफ में जा दुबका। दादी चीखती ही रही, "अरे ! यह क्या किया, मेट गये !"

'मेट गया' तो वह हो नहीं सकता और दादी भी जान पाती 'मेट गया' होता क्या है तो वह भी जीवन के समस्त स्वर बटोरकर कह उठती, "मेरे मुंह को आग लगे ! मैं क्या कह गई !" लेकिन यह सुझानेवाली बात क्या हर घड़ी याद रहती है, सो हम भी भूल गये और जब दादी ने अपने एकमात्र नाती को 'मेट गया' कहा तो हम––'अरे !' इतना कहकर ही रह गये। खैर ! लिहाफ को पेट से खूब लिपटाकर मन्नु दादी से सट-सा गया, "अम्मा ! राजा की कहानी कहोगी ! कहो।"

और कहानी आरम्भ हुई––"एक था राजा। उसके पांच थे लड़के।"...

कहानी के आरम्भ में ही मन्नु चिहुंक उठा। शास्त्रार्थ में डटे हुए तर्क-दिग्गज शास्त्री महोदय के समान उसने उछलकर कहा, "और जी, अम्मा ! उसके रानी नहीं थी।"

बात वहीं रोक देनी पड़ी। 'रानी' के बिना तो मन्नु बढ़ न सकेगा। हमने भी जाना कि ईसा की बीसवीं सदी का बालक कितना कुतर्की है, तो भी शुकर यही था कि 'रानी' की सृष्टि करने के लिए दादी को कुछ विशेष करना-धरना न पड़ा। उलटे मन्नु को धमकाकर हँसती हुई बोली, "पगले मन्नु ! रानी बिना राजा लड़के कहां पाता ?" दादी के पोपले मुंह से हँसी

को बिखरता देखकर मन्नु भी पैर पटककर, लोट लगाकर खिलखिला पड़ा।

और इसी तरह हम भी कहीं गजाधरबाबू से पूछ लें, "क्योंजी, बाबू-साहब! बंगाले की खाड़ी से यह मानसून जन्मी कैसे? तो बेतरह बिगड़ पड़ेंगे और कहेंगे--विज्ञान के इस युग में भी ऐसे सवाल करते हैं? सुनो! सूर्य की किरणों द्वारा जल भाप बनकर ऊपर उड़ता है और वहां जो ठण्ड है, उससे जमकर बादल बनता है, इत्यादि इत्यादि।

गजाधरबाबू की इतनी बात से हम पराजित-से जान पड़ेंगे और कुंठित-से होकर लौट आयंगे, "अरे! कहांतक पूछते रहे। यह तो विज्ञान-सम्मत बात है।"

मन्नु भी कुंठित हुआ होगा, पर वह तो उस सारी बात को हँसी में उड़ा-कर बोला--

"अम्माजी! फिर--"

कहानी फिर आरम्भ हुई--

और हमने भी जाना--मन्नु में और हममें कितना अन्तर है।

दादी ने कहा, "धीरे-धीरे वे राजकुमार चन्द्रकला के समान बढ़ने लगे। राजा उन्हें देखकर छाती फुला लेते। रानी खुशी से भरी-भरी फिरती। प्रजागण ऐसे हँसते, मानो बुढ़ापे में औलाद का मुंह देखा। हजार दास-दासी आठ पहर चौसठ घड़ी उनकी देख-रेख करते।"

बात फिर रुकने को हुई। हजार दास-दासी! बाप रे बाप! यह भी क्या मानने की बात है! पर कहानी की उत्कण्ठा ने कण्ठ दबाये ही रखा और मन्नु दादी की जांघ पर सिर रखकर बोला, "फिर।"

"फिर जब वे बड़े हुए तो एक दिन शुभ मुहूर्त और शुभ घड़ी में राजा ने अपने गुरु को बुलाकर राजकुमारों को उनके सुपर्द किया। राजकुमार सोने की तख्ती, चांदी की कलम और हीरे की दवात लेकर गुरु के संग शाला चले गये।"

ऊंघते-ऊंघते मन्नु ने कहा, "आगे!"

"अब वे वहां अनेक प्रकार की विद्याएं पढ़ने लगे। गुरु उनपर गर्व

करते। सहपाठी उनकी दोस्ती के लिए तरसते। इसी तरह एक दिन पढ़ाई समाप्त करके वे सोलह विद्या निदान हुए।"

कहानी यहां आकर एकदम रुक गई। रात्रि के प्रथम पहर में लिहाफ में दुबकी-दुबकी दादी ने पांच राजकुमारों के लिए सोने की तख्ती, चांदी की कलम और हीरे की दवात की जो सृष्टि की उनकी कल्पना करते-करते मन्नु की दोनों आंखें मिच गईं।

मेंह उस समय रुक गया था। केवल किवाड़ की दराजों में से होकर ठण्डी हवा कभी-कभी झांक जाती और दीवार पर रखा हुआ कड़वे तेल का दीवट उसके दर्शनमात्र से कांप उठता।

श्रोता के अभाव में दादी भी ऊंघने लगी। मन्नु तो उस समय इस दुनिया से बहुत-बहुत परे, जहां इस पार्थिव शरीर को लेकर कोई जा भी नहीं पाया, हीरे की दवात के पीछे मारा-मारा फिर रहा था। लग रहा था कि—सुन्दर-सुन्दर कपड़े पहने वह शाला जा रहा है। सुनहरी गोटवाले बस्ते में नीली चमकदार किताब बंधी है। सोने की तख्ती है और चांदी की कलम भी, पर हीरे की दवात वह कहीं नहीं देख पाता, इसीसे झिझका-झिझका खड़ा है।

... ...

सवेरे-ही-सवेरे नमी से लदा हुआ पूर्वी हवा का झोंका जब आकर कमरे में बिखर ही गया तो हम सो न सके। आंख खुली तो देखा, मन्नु चौक में बुहारी देती हुई मां की पीठ पर झुका-झुका कह रहा था, "मैं आज शाला जाऊंगा।"

और वह निर्लिप्त भाव से कूड़ा सकेरती हुई बढ़ी चली जा रही थी, मानो कह रही थी, "जायगा। चले जाना, पर मुझे अपना काम करने दे, भाई!"

जब जाना कि हम जगे हैं तो बोली, "सुना जी, आपने। मन्नु आज शाला जायगा। बुला भेजो न गुरु को।"

तब हम कुछ कहें, उसकी दादी बोल उठी, "आज नहीं! मुहूर्त देख

कर जाना होगा !"

लेकिन यह सब बातें मन्नु क्यों सुने। उसका तो कहना है, "मैं आज जाऊंगा।" और रहेगा भी उसीका कहना। सोच-साचकर हमने कहा, "शुभ काम के लिए सभी मुहूर्त है, अम्मा ! फिर पूजन होगा ही।"

अम्मा को राजी होना पड़ा। पड़ा इसलिए कि मन्नु का जी दुखाना उन्होंने जाना नहीं था और उसकी आंखों के आंसू प्रलय की प्रबल जल-धारा से कहीं अधिक शक्ति रखते थे, तब बेचारा मुहूर्त क्या करता। पत्रे में संशोधन हुआ और मन्नु का 'शाला-प्रवेश' समारोह भी बड़े उत्साह से आरम्भ हुआ।

सिर से पैर तक मन्नु को खूब सजाकर दादी ने पूछा, "क्यों रे ! पढ़-लिखकर तू क्या बनेगा ?"

मन्नु एकदम कुछ भी न कह सका। रात की कहानी में 'सोलह विद्या निदान' वाली बात सुनते-सुनते वह सो गया था। वह दिल पर ठीक-ठीक जम न पाई थी, पर याद आया उसे—बाबूजी कई बार गान्धी का नाम लिया करते हैं। तब सोच-विचारकर उसने भी कह दिया, "गांधी बनूंगा !"

घर में एकत्रित सब स्वजन खिलखिला पड़े, "लड़का समझदार है, भाई !"

और दादी तथा मां ने तो इसे भविष्य-वाणी करके लिया, मानो उनके घर का एक मात्र दीपक दुनिया को रोशन करनेवाला हुआ।

तभी पुरोहित सहित गुरूजी पधारे। सवेरे से जो झमेला बढ़ा चला आ रहा था वह मानो केन्द्र को पाकर शान्त हो चला। संस्कृत के मन्त्रों के भीमकाय उच्चारण से व्याप्त हमारा आंगन एक नई ध्वनि से गुंजारित हो उठा। श्रद्धा और भक्ति से सबके मस्तक झुक-से गये। हमें भी लगा, जैसे हम भी उस समारोह-सागर में गड़े जा रहे हैं, पर पता नहीं वह श्रद्धा थी या अज्ञान। हमें तो जान पड़ा कि हमने अपने अज्ञान को ही श्रद्धा करके माना है।

हां, मन्नु कौतूहल से चावल हाथ में लिये गुरूजी के हिलते हुए होठों

को देख रहा था और जब पुरोहितजी 'स्वाहा' कहकर आहुति कुण्ड में छोड़ते तो वह उचकने को होता, पर न जाने क्या सोचकर रह जाता, मानो उस बड़े भारी हल्ले में वह अपने-आपको पा नहीं रहा था, इसीसे अन्दर की जो अव्यक्त भावना थी, वह उफन कर ही रह जाती थी।

आखिर पूजा की वह विधि भी समाप्त हुई और जबतक हम गुरूजी की भेंट-पूजा करें, घर में एक तूफान-सा उठ खड़ा हुआ।

जल्दी-जल्दी जाकर हमने देखा——मन्नु पैर फैलाये रो रहा है। आंखों की स्याही आंसुओं के संग गालों पर फैल गई है और कपड़े-लत्ते जो पहने थे, वे धूल में लिप्त हो चले हैं। कह रहा है, "यह नहीं लूंगा! यह नहीं लूंगा!" और मां-दादी विवश-सी खड़ी हैं, मानो उसके असन्तोष का अन्त वे पा नहीं रही है। बात यह थी कि जब वह शाला जाने लगा तो उसकी मां ने सरकण्डे की कलम, काठ की तख्ती और मिट्टी की दवात उसके सामने ला रखी। बस, इन्हें देखते ही मानो उसके सारे अरमान धूल में मिल गये, मानो सारी आशाओं पर तुषारपात हुआ और लोट लगाकर लगा रोने, "यह नहीं लूंगा!"

पूछा, "तब क्या लोगे, भाई?"

कठिनता से कहीं वह बोल सका, "सोने की तख्ती, चांदी की कलम और हीरे की दवात लूंगा।"

चारों ओर हँसी का फुआरा-सा छूट पड़ा, लेकिन हमने जाना, धारा का स्रोत कहां है। उससे बोले, "आओ मन्नु! हम बाजार चलते हैं।"

और जब बाजार से लौटे तो मन्नु को उन्हीं चीजों से सन्तोष करना पड़ा। सारा बाजार छानकर भी वह सोने की तख्ती या दूसरी चीजें न पा सका था। पाठशाला जाने का उसका उत्साह भंग हो चला। कौन जाने उस बालक ने यह भी सोचा हो कि स्वप्न से बढ़कर जागरण में अधिक सच्चाई है, इसीसे चुपचाप उन्हें उठाया और गुरुजी के पीछे-पीछे हो लिया। ड्योढ़ी तक घर की औरतें पहुंचाने आईं, पर उसने किसीकी ओर नजर उठाकर देखा भी नहीं।

... ...

और उस दिन से मन्नु गुरुजी की पाठशाला का प्रगतिशील सदस्य गिना जाने लगा। गिना क्यों न जाता, उसके गुरुजी ने पर्याप्त दक्षिणा जो पाई थी और मन्नु की दादी ने हर एकादशी को सीधा देने का जो निश्चय प्रकट किया था, वह उनकी आत्मा की तृप्ति के लिए जरूरत से कहीं ज्यादा था। तब अनायास ही मन्नु उस पाठशाला का प्रगतिशील सदस्य जो बन गया, सो उसमें हमें तनिक भी अचरज नहीं हुआ।

पंचायती धर्मशाला के एक कमरे में उनकी शाला थी, जिसकी चटाई पर छप्पन वर्ष रगड़ गुरुजी अब सत्तावन में प्रवेश कर रहे थे। एक हाथ में रुद्राक्ष की माला और दूसरे में शहतूत की कम्मच लेकर उन्होंने अपने दीर्घ-काय जीवन में अनेक पुरुषों को 'सोलह विद्यानिदान' बना दिया था। वह उन लोगों में से थे, जिनकी विद्वत्ता की कसौटी उमर थी, जिनके माथे पर एक मोहर थी जिसे देखकर लोग जान जाते थे, यह पण्डित हैं, सो विद्वान है। वह पण्डित थे पर जन्म के, ज्ञानी थे पर शोहरत के। वह कुछ भी नहीं जानते थे, परन्तु जनता उन्हें विद्वान समझती है, यह अवश्य जानते थे। कहा करते थे, विद्या पढ़ने से नहीं, गुरु की सेवा करने से आती है। प्रत्येक महीने के अन्त में वह फीस लेते थे और उस समय जो भी लड़का उनको दो पैसे देने में समर्थ हो सकता, वह निश्चय ही वेद-शास्त्र-ज्ञाता माना जाता।

आखिर वह दिन भी आया।

गुरुजी शहतूत की कमची संभालकर प्रत्येक बालक का नाम पुकारने लगे। कमरे में ऐसा सन्नाटा छाया कि रेत में सुई गिरने की आवाज तक सुन ली जाती और लड़कों के हृदय की अवस्था का ठीक-ठीक चित्रण करने के लिए तूफान के थपेड़े खाती हुई किसी क्षुद्र नदी की कल्पना युक्ति-संगत जान पड़ी।

पहिली बारी रज्जो की थी।

"फीस लाये हो ?"

"जी, गुरुजी। ढाई सेर आटा, पावभर घी, पावभर चावल आदि...।"

"और दो पैसे ?"

"जी, गुरुजी ।"

"तुम कालिदास हो, भवभूति हो, गुरु के सच्चे भक्त हो !"

रज्जो ने आसमान से गिरते हुए इस आशीर्वाद को ग्रहण किया और उचककर शाला से बाहर जा रहा ।

अब आया कम्मू । किताब में आंखें गाड़े-गाड़े वह पढ़ रहा था—

ढ़ाऊं-ढ़ाऊं ।
कूकड़ा बजाऊं ।।
कूकड़े में मारी लात ।
तीन ढ़ाऊं साढ़े सात ।।

उसने सुना नहीं ।

गुरुजी कमची को फर्श पर पटककर चिल्लाये, "कम्मू के बच्चे ! सुनता नहीं ?" दोनों कानों पर हाथ रखकर कम्मू खड़ा हो गया और महारनी की तरह रटने लगा—पांच सेर पालक, दो सेर आलू, तीन गोभी आदि-आदि ।

"और दो पैसे ?"

"नहीं, जी !"

"नहीं, जी !" गुरुजी ने दोहराया । और कमची लेकर चिल्ला उठे, "इधर आओ, तुम नास्तिक हो, गुरुद्रोही हो !"

तभी लड़कों ने ऊंचे स्वर में पढ़ना शुरू किया, "गुरु पिता है, गुरु परमेश्वर है, गुरु का कहना मानना परम धर्म है ।"

गुरुजी के पैर पकड़कर कम्मू ने कल ले आने की प्रतिज्ञा की तो प्राण छूटे । लेकिन इस अपमान को वह भूल न सका । बैठते-बैठते उसने कह ही दिया—

तख्ती पै तख्ती ।
तख्ती पै रोड़ा ।।
गुरुजी मर गये ।

लकड़ियों का तोड़ा ।।

और आंखें मीच लीं, पर उसका भय निर्मूल ही था; क्योंकि फीस के पैसे गिनने में व्यस्त गुरुजी तक यह बात पहुंची नहीं।

पैसे तो मन्नु भी नहीं लाया था; परन्तु उसकी फीस उन सबसे कीमती थी, इसीसे गुरु ने पास बुलाकर प्यार से कहा, "कल ले आना, बेटा।"

और हँसते-हँसते रज्जो की ओर देख भर लिया। इसीसे संध्या को रास्ते में चलते-चलते रज्जो ने पैसेवाली बात मन्नु को सुझा दी और अगले दिन आते ही मन्नु ने आगे बढ़कर दो पैसे गुरुजी के आगे रख दिये तो वह गद्गद वाणी से बोले, "तुम वेदज्ञाता वेदव्यास हो, आदि कवि वाल्मीकि हो, तुम गुरू के प्यारे हो...।"

मन्नु ने इस आशीर्वाद पर बड़ा उत्साह प्रकट किया। उसने आज जाना—मैं 'सोलह विद्या निदान' हुआ।

उसके निष्पाप दिमाग में जो प्रसन्नता जन्मी, वह उसके छोटे-से दिल के भीतर ऐसे भर गई, जैसे रबड़ की पतली फूंकनी में हवा भर दी जाय—अब फटी! अब फटी! और उसे शाला का एक-एक क्षण वर्ष-सा जान पड़ा। छुट्टी मिलते ही भागा-भागा घर आया, "अम्माजी, अम्माजी! तुम ठीक-ठीक कहानी कभी नहीं कहतीं।"

दादी अचरज से बोली, "क्या हुआ रे?"

मन्नु वैसे ही बोला, "तुमने यह कहां कहा था कि वे राजकुमार अपनी दादी की डिब्बिया में से दो पैसे निकालकर गुरु को दिया करते थे।"

उस दिन

राजधानी का एक कोना,
सितम्बर, १६४७

रानी,

तुम्हारा पत्र मुझे ठीक एक माह के पश्चात् मिला। तार और रजिस्ट्री पत्रों का मुझे कुछ पता नहीं, क्या हुआ ? पत्र मिला, यही क्या कम सौभाग्य की बात है। परन्तु इसपर भी मेरी बुद्धि को देखो, आज तक उस पत्र का उत्तर न दे सकी। सच तो यह है रानी, उत्तर देना ही नहीं चाहा। मन इतना अव्यवस्थित था कि सहस्रों पत्रों की स्याही भी उसकी गहराई नहीं आंक सकती। अब भी मस्तिष्क अस्तव्यस्त है। काम करते-करते चौंक उठती हूं। क्या सचमुच जो मैंने देखा था, वह मेरे देखते-देखते घटित हुआ था, अथवा वह केवल स्वप्न था ? काश कि वह स्वप्न होता !

रात की बात है, तुम्हारे जीजा अचानक चीख उठे। देखा बुरी तरह कांप रहे और उनके विस्फारित नेत्र निपट सूने हैं। शीघ्रता से पूछा, "क्या बात है ?" वह नहीं बोले। ऐं…ऐं करने लगे। छाती काफी पत्थर की हो चुकी थी, पर फिर भी दिल घबराने लगा। किसी तरह आंखों पर हाथ रखकर दिल को सहलाने लगी। क्षण बीता, पुतलियां घूमीं। उन्होंने हाथ उठा दिये। मेरे प्राण लौटे, पूछा, "क्या हुआ था?" वह बोले, "मैं कहां हूं ?" मैंने कहा, "अपने घर में।" सुनकर वह उठ बैठे। चारों तरफ देखा और फिर हँस पड़े, "तो यह सब स्वप्न था ?" मैं भी हँस पड़ी, "ऐसा भी क्या स्वप्न था ! आपने तो प्राण निकाल दिये।"

उन्होंने बताया, "मैंने देखा, मैं अपने कमरे में बैठा हुआ पढ़ रहा हूं।

अचानक कहीं स्टेनगन छूटी और गोली मेरे मस्तिष्क को चीरती हुई चली गई।" कहते-कहते उन्होंने फिर दोनों हाथों से अपना सिर थाम लिया, बोले, "अभी तक मुझे विश्वास नहीं होता कि मैं जीवित हूं।" मैं हँस पड़ी, "विश्वास करेंगे तो हो भी जायगा।" वह भी हँस पड़े; पर क्षण बीता, नीलम चिल्लाकर उठी, "पिताजी, पिताजी...।"

मैं उधर मुड़ी। पुचकारकर पूछा "नीलम, क्या बात है बेटी?"

पर मेरी बात सुने बिना वह फिर चिल्लाई और मुझसे चिपट गई। उसकी पकड़, उसके हृदय की धड़कन, मैं आज भी महसूस कर रही हूं। मैंने उसे छाती से लगाकर कहा, "नीलम, मेरी बच्ची! यहां मैं हूं, तेरे पिताजी हैं, देख तो।"

अब नीलम ने आंखें खोलीं। एक बार मुझे देखा, फिर उन्हें। बोली नहीं। वह बोले, "सिपाही ने किसको गोली मारी थी, बेटी?"

क्षण-भर वह झिझकी, फिर बोली, "गोली नहीं, चाचा ने एक मुसलमान के पेट में छुरा मार दिया।" और फिर मेरी ओर देखकर पूछा, "पर भाभी, वह मुसलमान मुझे नहीं मार रहा था। तब चाचा ने उसे क्यों मारा?"

सहसा मेरे दिल को चोट लगी, पर उससे मैंने यही कहा, "वह किसी और को मारकर आया होगा, बेटी?" और फिर मानो जागकर मैं बोली, "पगली, तू सपना देख रही थी। यहां न तेरे चाचा हैं और न कोई मुसलमान।"

यह एक दिन की कहानी नहीं है। उस दिन वह डरे थे, कल मैं डरी थी, आज नीलम और कल प्रदीप डरेगा। यही क्रम प्रत्येक परिवार में चलता रहता है। कभी-कभी तो वह डर इतना व्यापक हो उठता है कि सारी गली में तूफान-सा आ जाता है। स्वप्न का डर वास्तविक बन जाता है और मनुष्य सर से कफन बांधकर, शहादत का प्याला पीने के लिए, बाहर निकल पड़ते हैं...।

रानी! स्वप्न फिर भी स्वप्न है, पर मैं जिसे स्वप्न माननेवाली थी,

वह तो ऐसी वास्तविकता है, जो सत्य होने का दावा करती है। याद नहीं पड़ता, कहीं पढ़ा था—सत्य तो केवल मनुष्यता है। पर आज जो सत्य नहीं है, वही वास्तविकता सत्य बनने जा रही है। मैं कहूं, वह बन चुकी है। मनुष्य स्वयं अपने पतन को अपना सत्य मान बैठा है। नियति का कैसा क्रूर व्यंग है! मनुष्य मनुष्यता का हनन करके समझता है, उसने मनुष्य की रक्षा की है!

मैं भावना में बहने लगी, मेरी रानी! पर तुम भी क्या इतनी अनभिज्ञ हो? यहां के हत्याकाड की चर्चा तुमने अवश्य सुनी होगी। मनुष्य की प्रगति का साक्षी रेडियो, मनुष्य के इस पतन की कहानी प्रतिदिन संसार को सुनाता रहता है। मैं जानती हूं, जब तुम इस नगर का नाम सुनती होगी—और वे अवसर कम नहीं होंगे—तो तुम्हारा दिल रो उठता होगा। मन बड़ा पापी है। तुम सोचती होगी कि, मंजु न जाने कहां होगी? होगी भी या नहीं! कहीं भागती फिरती होगी। जीजाजी ..! जाने दो रानी! यह सब स्वाभाविक है। तुमने चिट्ठियां डालीं, तार भेजे, फोन किया, पर सब बेकार। हम तक कुछ नहीं पहंचा। पहुंचा तो केवल तुम्हारा प्यार जो अक्षय है। पर प्यार भी सभीने सभीको भेजा होगा। वह जो एक नारी, जिसकी लाश दो दिन तक मेरे मकान के सामने पड़ी रही, उसके भी कोई अपने होंगे। उन्होंने प्यार से उसे पुकारा होगा। उसके लिए भगवान् के दरबार में गुहार की होगी, पर उसके प्यार की पुकार व्यर्थ गई।

रानी! उस कहानी के याद आते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। तुम्हें याद होगा, पिताजी की मृत्यु के समय मेरी क्या हालत हुई थी। जब तुम अन्तिम दर्शन के लिए बुलाने आई थीं तो तुम्हीं से चिपटकर मैं चीख पड़ी थी। उसके बाद आंखें खुली थीं तो भैया अग्नि-संस्कार करके लौट आये थे। वही मैं उस दिन कई घन्टे तक बैठी-बैठी उस लाश को ताकती रही। वह नाली के किनारे मुंह के बल पड़ी थी। उसकी गरदन और पेट के पास खून जम गया था। उसके वस्त्र जीर्ण और आरक्त थे। उसके बाल हवा में उड़ रहे थे। उसके पास ही उसका बच्चा लेटा था। उसका पेट फट गया

था और नन्हीं-नन्हीं आंतें बाहर निकल आई थीं।

मैं कितनी सरलता से ये बातें लिख रही हूं, परन्तु उस दिन तो मेरा हृदय फटा पड़ता था। मैं बार-बार पीछे हट जाती थी; परन्तु दूसरा क्षण आता, चुपचाप खिड़की से झांकने लगती। वह उसी तरह पड़ी थी-- शान्त, निस्तब्ध और मौन। उसका बच्चा न उसे 'मां' कहकर पुकारता था, न उसे दूध पीने की चाह थी। वह रोता भी नहीं था। तब वहां चारों ओर गहरा सन्नाटा था, धूप तेजी से फैल रही थी। नाली के पानी में कूड़ा सड़ रहा था और इधर-उधर मैला बिखरा पड़ा था। तभी पीछे से आकर उन्होंने पूछा, "क्या देख रही हो, मंजु ?"

मैंने धीरे-से कहा, "कोई मुझे भी इसी तरह मार देगा। प्रदीप की आंतें भी इसी तरह...।" सहसा मुझसे बोला नहीं गया। गला भर आया।

वह बोले, "मंजु, तुम न सही, तुम्हारी जैसी अनेक नारियों की यही दशा हुई है।"

"पर इसका अन्त; इसका परिणाम ?"

वह बोले, "परिणाम इसका शुभ होगा, मंजु ! विनाश के बाद निर्माण एक नियम है। भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए उसमें आग लगा देते हैं। गांव, खेती और पशु सबका नाश करके बाढ़ जब उतर जाती है, तब धरती की अन्न पैदा करने की शक्ति बढ़ जाती है।" और फिर वह हँसकर बोले, "धन्यवाद दो इनको। खाद बनकर ये मनुष्यता की रक्षा कर रहे हैं।"

मेरे मुंह से तब यही निकला था, "यह कैसा निर्दय नियम है !"

वह हँसकर चले गये। बाहर कहीं शोर मच रहा था और गोली छूटने लगी थी। छूटती चली जा रही थी। नीलम तेजी से आई और पूछने लगी, "भाभी, गोली क्यों चल रही है ?"

"लड़ाई हो रही है।"

"किससे ?"

"चोरों से।"

"चोर दिन में भी आते हैं ?"

"हां, अब आने लगे हैं।" और मैं शीघ्रता से उसे दूसरे कमरे में ले गई। मैं नहीं चाहती थी कि नीलम उन लाशों को देखे। तब मुझे क्रोध भी आया। आखिर हमारी सरकार क्या कर रही है? परन्तु दूसरे ही क्षण मुझे याद आया, वह कह रहे थे, "कौन जाने अब क्या होगा? सब सरकार को गालियां देते हैं, परन्तु उसकी मुसीबत को कोई नहीं जानता।" उस समय मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। मैं सोचने में बिल्कुल असमर्थ हो उठी थी और मुझे डर लगने लगा था। मैंने चुपचाप ग्लेक्सो का डिब्बा उठाया और दूध बनाने लगी। गाय-भैंस का दूध तब स्वप्न हो गया था। दूध ही क्या, सब कुछ स्वप्नवत् था। न साग-सब्जी थी, न दूध-दही। चीनी और कोयले का गहरा अकाल पड़ रहा था। लोग खाट-पीढ़े जलाने लगे थे। उस समय इन बातों की किसीको चिन्ता नहीं थी। उन्हें तब छुरों और बन्दूकों की चिन्ता थी। वे पेट्रोल और तेल इकट्ठा किया करते थे। इसी-लिए जब कभी ऊपर चढ़ती तो ऐसा लगता था, मानो एक बार फिर अग्नि देवता, अर्जुन की सहायता से, खाण्डव-वन जलाने आ पहुंचे हैं।

उसी समय जीने में खड़खड़ हुई। मैं उठी, देखती हूं, रमेश आया है। उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे और उसकी आंखों में ऐसा कुछ था, जिसे देख-कर डर लगता था। परन्तु वह मुस्करा रहा था। वह उनके रामपुरवाले मामाजी का लड़का है—युवक और दबंग।

ऊपर आकर उसने कहा, "भाभी, सब ठीक है न?"

मैंने उत्तर दिया, "हां। ठीक ही है।"

वह मुस्कराया, फिर एक क्षण चुप रहकर उसने कमीज के नीचे से तलवार निकालकर दिखाई। वह रक्त से भरी हुई थी। मुझे कंपकंपी आ गई। वह बोला, "क्या देखती हो, भाभी? आज पांच म्लेच्छों का निस्तार किया है।"

"तुमने...?"

"जी हां; और तुम क्या समझती हो? देखो, यह तलवार कितनी प्यारी लगती है!" उसने तलवार उठाई और एक बार हवा में घुमाकर

बोला, "भाभी, मैं जानता हूं, इस समय तुम्हारे प्राण निकल रहे हैं। तुम लोग बड़े गांधीवाद बनते हो न; परन्तु हम तुम लोगों के भरोसे रहते तो बस सर्वनाश हो जाता। उन्होंने पूरा षड़यन्त्र रचा था। एक भी हिन्दू के बचने की आशा नहीं थी।"

"सच ?"

"सच भाभी ! पूरा प्लोट पकड़ा गया है।"

"बड़े दुष्ट हैं वे लोग।"

वह गर्व से आंखें चढ़ाकर बोला, "निस्सन्देह वे बड़े दुष्ट हैं, परन्तु साथ ही बहादुर भी हैं। स्त्री और बच्चे तक धर्म के नाम पर मरना जानते हैं। हिन्दू-स्त्रियां चुपचाप मुसलमानों के साथ भाग जाती हैं; और मुसलमान स्त्री प्राण दे सकती है, परन्तु धर्म नहीं। जिन लोगों को मैंने मारा है, उनमें एक युवती भी थी—सुन्दर और कोमल। मैंने उससे कहा, 'तुम हिन्दू बन जाओ तो मैं तुम्हें बचा लूंगा।' सुनकर वह शेर की बच्ची बोली, 'नहीं, मैं हिन्दू नहीं बनूंगी। मैं मारूंगी और मर जाऊंगी।'

"और वह मर गई।" मैंने घृणा और गर्व से भरकर कहा।

उसने इस बार सांस खींची और बोला, "हां, भाभी, और क्या होता, मैंने उसे मार डाला।" वह तलवार धो रहा था और बड़े गर्व से अपनी कहानी सुना रहा था।

ऐसे आदमी पर क्रोध करना व्यर्थ है। मुझे तब क्रोध आ भी नहीं रहा था। मैं नहीं जानती, तब मैं कैसी हो रही थी। मैंने बहुत-सा पानी डालकर खून को बहा दिया और चुपचाप उसकी कहानी सुनती रही।

वह तलवार धो चुका तो उठा, बोला, "अच्छा भाभी, चलता हूं। कई शिकार छोड़ आया हूं।"

मैंने होंठ काटकर कहा, "अपना ध्यान रखना।"

वह हँसा, फिर एकाएक मुड़कर बोला, "भाभी, मैं कितना वज्र मूर्ख हूं ! जो काम था, वह तो मैं भूल ही गया।" और पास आकर धीरे-से उसने जेब से एक छोटा-सा पैकेट निकालकर दिखाया। उसमें एक हार और एक

लाकेट था। मैं ठगी-सी देखती रह गई। वह मुस्कराया, "इसे अपने पास रख लो। एक दिन आकर ले जाऊंगा। परन्तु भैया से मत कहना, मेरी अच्छी भाभी!"

मुझे अच्छा नहीं लग रहा था। मैंने कहा, "लेकिन सुनो तो!"

परन्तु उसने नहीं सुना। नीचे उतर गया और वहीं से बोला, "भाभी, डरना मत। मैं आता रहूंगा। मुसीबत आने पर तुम्हें साफ बचा जाऊंगा, इतना विश्वास रखना।"

वह चला गया और मैं मूर्त्तिवत् वहीं खड़ी रही। यदि नीलम न पुकारती तो न जाने कब तक खड़ी रहती। उसकी पुकार सुनकर मैं जागी। मेरे हाथ में पैकेट था। मन में उठा, उसे इतनी दूर फेंक दूं कि वह फिर कभी मेरी आंखों के सामने न आ सके; परन्तु हुआ यह कि मैं चुपचाप अन्दर गई और पैकेट को अलमारी के गुप्त आले में रख दिया। तब मुझे अपनी सहज बुद्धि पर स्वयं ही अचरज होने लगा। मैंने एक लम्बी सांस खींची और रसोईघर में चली गई, परन्तु वहां अभी बैठ भी नहीं पाई थी कि मुझे लगा, कोई सुबक-सुबककर रो रहा है। उन सुबकियों में इतना दर्द था कि कई क्षण तो मैं करुणा से अभिभूत बैठी रही। जागी तो जाना, रसोई के पास जो पड़ोसिन का कमरा है, शब्द वहीं से आ रहा है। मैं सहानुभूति से भर आई--अवश्य ही उसका कोई सम्बन्धी मारा गया है। उन दिनों मरना बड़ी साधारण बात थी, परन्तु अपनों के मरने का दर्द भी उतना ही स्वाभाविक होता है। मैंने निर्णय किया, मुझे उसके पास जाना चाहिए; परन्तु मैं उठूं कि पड़ोसिन स्वयं मेरे पास चली आई। देखा, उसके नयन आरक्त हैं। मुख मुरझाये हुए पत्ते की तरह पीला हो आया है।

वह चुपचाप मेरे पैरों के पास आकर बैठ गई और करुण स्वर में बोली, "बहन!"

मैंने कहा, "आखिर क्या हुआ?"

लेकिन उसने मेरी बात नहीं सुनी। गिड़गिड़ाकर बोली, "बहन, बड़ी आशा लेकर तुम्हारे पास आई हूं।"

मेरी समझ में नहीं आया, वह क्या कह रही थी। इसीलिए सहसा कुछ जवाब नहीं दे सकी। वह बोली, "तुम्हारे वह तो गांधीजी के भक्त हैं न ?"

मैंने यंत्रवत् कहा, "हां, हैं।"

वह बोली, "तो एक काम करोगी ?"

मैंने कहा, "बताओ।"

लेकिन उसी तरह वह बोली, "करोगी न ?"

मैंने दृष्टि उठाकर उसे देखा, उसकी तरल आंखों से आशा की हल्की किरण जाग रही थी। मैंने जवाब दिया, "मेरे बस का होगा तो क्यों न करूंगी।"

वह बोली, "तुम्हारे बस का है, तभी तुम्हारे पास आई हूं।"

सच रानी, मुझे यह सब बड़ा रहस्यमय लग रहा था। आखिर क्या काम है, जो यह स्वयं न करके मुझसे कराना चाहती है ? क्या रमेश की तरह...? यह विचार मन में आते ही, मैं कांप उठी, परन्तु वह बोल रही थी, "बहन, मैं बताती हूं। देर का काम नहीं है। मेरे पास एक लड़का है। उसकी जान बचानी है।"

मैं अचकचाई, "किसका लड़का ?"

"मेरी बहन का।"

मेरी बुद्धि काम नहीं दे रही थी। उसकी बहन का लड़का—उसे बचाना...तो क्या उसने हत्या की है ? मैंने अबूझ की तरह कहा, "क्या वह जेल में है ?"

"नहीं बहन !" वह बोली, "जेल में नहीं है। वह मेरे पास है।"

"तो उसे क्या डर है ?"

वह झिझकी, "बहन, बात यह है कि वह मुसलमान है।"

"मुसलमान...!"

"सुनो तो; वह मुसलमान है। मैं उसे अपने घर नहीं रख सकती; क्योंकि तुम जानती हो, वे लोग मुसलमानों के कितने दुश्मन हैं ! पता लगते

ही वे उसे मार डालेंगे। मैं जानती हूं, तुम्हें अचरज हो रहा है, मुसलमान लड़का मेरा भानजा कैसे हुआ ? बात दर्दभरी है। वह जो लाश तुम गली में पड़ी देख रही हो, मेरी बहन की है। वह मासूम बच्चा उसीका है।"

सुनकर मेरा हृदय तीव्र गति से धक्‌धक्‌ करने लगा। मैं फुसफुसा उठी, "वह तुम्हारी बहन है ! तुम क्या कह रही हो ?"

"हां। वह मेरी बहन है।"

"पर..."

"सुनो तो, वही बता रही हूं। बहुत वर्ष बीत गये। तब मैं छोटी-सी थी। एक बार मुसलमानों ने हमारे गांव पर हमला किया और अनेक लड़कियों के साथ मेरी बहन को उठाकर ले गये। वह युवती थी और उसका विवाह हो चुका था...।"

बात काटकर मैं एकाएक बोल उठी, "उसे किसीने बचाया नहीं ?"

"नहीं। वे चाहकर भी उसे न बचा सके।"

"वापस लाने की कोशिश भी नहीं की ?"

"नहीं बहन ! एक बार मुसलमान के घर जाने के बाद हिन्दू स्त्री फिर अपने धर्म में नहीं आ सकती।"

सुनकर मैं क्रोध से अभिभूत हो उठी। मैंने उत्तेजित होकर कहा, "तभी तो आज यह अभागा देश इस मर्मान्तक पीड़ा से तड़प रहा है।"

उसने मेरी बात नहीं सुनी, बोलती रही, "पर बहन कुछ दिन बाद वह किसी तरह वहां से निकल आई और सीधे पति के पास पहुंची। पति ने कहा कि उसे रखकर वह अपने कुल को कलंकित नहीं कर सकता।"

मैंने तड़पकर कहा, "वह पिशाच था।"

"क्रोध न करो।" वह बोली, "उसकी शिक्षा ही ऐसी थी। मेरी बहन का दिल टूट गया। वह लौट गई। उसके बाद उसकी कोई खबर नहीं मिली। वर्ष बीत गये। मेरी भी शादी हो गई। मैं भूल गई, मेरी कोई बहन थी; पर विपत्ति का चक्र अद्‌भुत है। अचानक पारसाल रेल में मैंने उसे देखा। मैं उसे पहचानती थी। हम दोनों स्त्रियों के डिब्बे में थीं। मुझे

पहचानकर वह रो पड़ी। परन्तु परिस्थिति ऐसी थी कि हमारा वह मिलन, मिलन न बनकर एक दर्द बन गया। न मैं अपने पति से कह सकती थी, न वह अपने मालिक से। वह सुखी थी और अपने पिछले जीवन को प्रायः भूल गई थी, परन्तु फिर भी उसका दिल एक गहरी कड़वाहट से भरा हुआ था। वह सब स्वाभाविक था। मैंने उसका विरोध नहीं किया, परन्तु न जाने क्या हुआ कि मैं पूछ बैठी, "क्या तुम अब भी आना पसन्द करोगी ?"

वह विद्रूप से हँसी, "कमला, तुम मेरी बहन हो। जानती हूं, तुम्हारा कुछ अपराध नहीं। इसीलिए कहती हूं, इस प्रश्न का उत्तर न मांगो। न जाने, मैं क्या कह बैठूं।" कहते समय उसकी आंखें घृणा से उफन रही थीं और मैं देख रही थी उसकी वेश-भूषा, उसका रूप-रंग उसकी सन्तान···।

सहसा स्टेशन आ गया। उसे उतरना था। उसके मालिक ने आकर कहा, "उतरो बेगम !"

वह साधारण मुसलमान था, परन्तु न जाने क्यों, मैंने उसे ध्यान से देखा। वह मेरी बहन का पति था। पति···कि मैंने सुना, वह कह रही थी, "कुछ फल ले आओ।"

पति ने पूछा, "क्यों ?"

"ला दो।" बहन ने कहा और मुस्कराकर मेरी ओर इशारा किया। वह चले गये और लौटे तो एक दर्जन केले उनके हाथ में थे।

वही केला मुझे देकर उसने कहा, "तुम छोटी हो। तुम्हें देने को यही कुछ मेरे पास है।" और वह नीचे उतर गई। सहसा जाते-जाते वह फिर मेरी ओर मुड़ी, पूछा, "कहां रहती हो ?"

मैंने पता बता दिया। तब मैं रो रही थी। क्षणभर में आंसुओं के पीछे उठनेवाली उसकी मूर्ति अस्त हो गई। मैं सोचने लगी, जो कुछ हुआ, वह क्या सत्य था ? पर समय की महिमा अलौकिक है। मैं उसे भूलने लगी। न भूलती तो जीती कैसे ? पर आज अचानक जब सवेरे यहां हत्याकाण्ड हुआ था, यह लड़का मेरे कमरे में भागा हुआ आया। डर के मारे पीला पड़ गया था। वाणी रुंध रही थी। आकर पलंग के नीचे छिप गया। मैं सहसा घबरा

गई। मैंने कांपकर उसे देखा। मैं उसे पहचानती थी। मैंने कहा, "क्या है ?"

वह बोल नहीं सका। मैंने परिस्थिति को समझा। कमरे के किवाड़ बन्द कर लिये। पुचकारकर कहा, 'डरो नहीं। तुम्हें कोई कुछ न कहेगा।' क्षण बीते, उसका रंग लौटा। उसने बताया, लोगों ने उसके बाबा, अब्बा, चाचा सबको मार डाला। उसकी बहन को पकड़कर ले गये। चाची कहीं भाग गई। अम्मी उसे और छोटे बच्चे को लेकर इधर आ रही थी कि यहां पर लोगों ने उसे भी मार डाला।"

कहते-कहते वह रो पड़ी, "उस गड़बड़ में यह भाग आया। कहता था, एक बार पहले भी मेरा घर देख गया था; परन्तु बहन, मैं उसे अपने घर में नहीं रख सकती। वह उसे मार डालेंगे। तुम लोग तो गांधीजी की बात मानते हो। तुम दया करके उसे बचा लो।"

मैंने दृष्टि उठाकर उसे देखा। मेरा मन करुण विषाद से भरा हुआ था और विषाद ही क्यों, घृणा, द्वेष, क्रोध, करुणा, दया सभी उसमें थे; पर सबको लीलकर श्रद्धा मुझमें उमड़ पड़ी। मैंने धीरे-से इतना ही कहा, "उसे यहां ले आओ।"

उसका मुख खिल उठा। नयनों में जल भर आया, मानो प्रभात किरण ने कमल-सरोवर को छुआ हो। मेरे पैर पकड़कर बोली, "तुमसे यही आशा थी।" इतना कहकर वह अपने घर चली गई। कुछ देर बाद लौटी तो एक सहमा हुआ लड़का उसके साथ था, बोली, "यह लो। अब यह तुम्हारी शरण है।"

मैं कई क्षण उस बालक को देखती रही। उसका पिता मर चुका था। उसकी मां की लाश अभी तक गली में पड़ी हुई थी। वह स्वयं अधमरा हो रहा था। उसकी आंखें भय से पूर्ण थीं। वह न बोल सकता था, न सुन सकता था। उसे जहां बैठा दिया गया, वहीं बैठा हुआ शून्य में ताकता रहा।

कमला चली गई। जाते समय जिस कातर और स्नेहभरी दृष्टि से मुझे देखा, वह अब भी याद है। काश, मैं चित्रकार होती! खैर, कुछ देर बाद वे

लौट आये। उस लड़के को देखकर वह चौंके, पूछा, "यह कौन है मंजु ?"

मैंने धीरे-से कहा, "एक मुसलमान लड़का है और इसकी मां की लाश हमारे घर के सामने पड़ी है।"

वह भी सकपकाये। मुसकराये भी, पर मैं उन्हें अधिक असमंजस में नहीं डालना चाहती थी। इसीलिए सारी कहानी उन्हें सुना दी। न जाने क्या हुआ वह गम्भीर हो उठे। मैं सहसा डर गई। मैंने कहा, "आप डरते हैं।" वह मात्र 'एं' करके रह गये। मेरे तो जैसे प्राण खिंचने लगे। सामने आकर पूछा, "आप बोलते क्यों नहीं ? क्या मैंने गलती की है ? क्या...?"

उन्होंने अब धीरे-से कहा, "नहीं मंजु ! मैं तुम्हारी बात नहीं सोच रहा।"

"फिर...?"

"सोच रहा हूं, यह अभागी हिन्दू जाति..." सहसा उन्होंने दोनों हाथों से अपना सिर थाम लिया और शीघ्रता से कहा, "मंजु, मैं कुछ नहीं सोच रहा। कुछ भी तो नहीं...।"

मैं अभी तक डर रही थी। मैंने कहा, "आपको क्या हो रहा है ?"

वह उसी तरह बोले, "मुझे ? मुझे कुछ नहीं हो रहा है, मंजु ! दुनिया में कहीं कुछ नहीं हो रहा है...।" फिर सहसा हँस पड़े, "चिन्ता न करो, मंजु ! प्राण रहते लड़के को कोई डर नहीं है।" मेरे प्राण लौटे। वह कहते रहे, "पर सोचता हूं, उसे अभी कैम्प में छोड़ आना ठीक रहेगा। यहां न जाने, कब क्या हो जाय ! शान्ति होने पर...।"

जीने में फिर खड़खड़ हुई। रमेश आया था। उन्हें देखकर बोला, "ओहो, भैया, आप हैं। आपके घर के सामने लाश अभी तक पड़ी है। आपने कहा भी नहीं। मैं अभी उसे फिकवाने को कह आया हूं।" फिर मेरी ओर मुड़कर बोला, "बड़ी दुश्चरित्रा थी वह स्त्री।"

"सच ?"

"हां, भाभी ! पहले वह हिन्दू थी। सच मानना, सुनकर पागल हो उठाः हिन्दू स्त्री मुसलमान क्यों हुई ? बस, मैंने जमकर एक वार गर्दन पर

किया...।'

"तुमने ?"

"हां, भाभी ! छुरा लगते ही वह गिर पड़ी और पड़ी ही रह गई। मेरे छुरे ने उसके पापों का प्रायश्चित कर डाला। वैसे वह बड़ी ताकतवर थी। दो आदमियों के प्राण तो उसने संकट में डाल दिये थे।"

वह अब बोले, "शायद उसके पास रिवाल्वर थी ?"

"नहीं, भैया ! हाथों से गला दबाने लगी थी। मैं पीछे से आकर छुरा न मार देता तो...।"

"बस-बस !" मैं घृणा से चिल्ला उठी, "तू इतना कायर है !"

वह हँस पड़ा, "भाभी, शठम् प्रति शाठ्यम् समाचरेत" यह आर्य संस्कृति का आदर्श है। यदि हम इस आदर्श का पालन न करते तो आज हिन्दुओं का मूलोच्छेदन हो जाता और तुम...।"

उन्होंने वाक्य पूरा किया, "और तुम किसी मुसलमान की पत्नी होतीं, यही न ? जो कायर हैं, उन्हें बरबाद होना ही चाहिए, रमेश !"

रमेश तनिक भी नहीं लजाया; हँस पड़ा, बोला, "भैया, एक बात का दुःख रहा। उस हल्ले में उस औरत का बड़ा लड़का न जाने कहां चला गया।"

उन्होंने मुस्कराकर रमेश को देखा, फिर धीरे-से कहा, "वह लड़का मेरे पास है। क्या मारना चाहते हो ? ले तो आओ, मंजु !"

रमेश के मुंह पर सहसा स्याही पुत गई ! चकित-विस्मित बोला, "भैया !"

"ठीक कर रहा हूं और सुनो, मैं उसे कैम्प में ले जा रहा हूं। तुम्हें मेरे साथ चलना होगा।"

"क्यों ?"

"मैं कह रहा हूं, तुम अभी मेरे साथ कैम्प तक चलोगे।" और फिर मुड़कर मुझसे कहा, "उसके लिए कपड़ों का प्रबन्ध कर दिया है ?"

सब कुछ तैयार था। वह मुस्कराये, "आओ रमेश ! यह पैकेट उठा

लो।"

उन्होंने लड़के का हाथ पकड़ा और नीचे उतर गये। मैंने खिड़की से देखा, रमेश यंत्रवत् बगल में पैकेट दबाये उनके बराबर चल रहा है। लड़के की उंगली उनके हाथ में है और धूप ढल चली है। मक्खियां आहट पाकर उड़ीं और फिर लाश पर छा गईं। सहसा दूर कहीं राइफल चली—चलती रही। पड़ोस में शोर मचने लगा। फिर सब शान्त हो गया। मौत की तरह शान्त—मनुष्यता की मौत की तरह। वह कह रहे थे, मनुष्यता की इस लाश से ही वास्तविक मनुष्यता का जन्म होगा। जैसे राजा वेन की लाश से महाराज पृथु का जन्म हुआ था—जिनके कारण धरती का नाम पृथ्वी हो गया है।

शायद वह ठीक कहते हैं।

शायद रानी! घोष को मेरा प्रणाम कहना और मधु-मालती को मौसी का प्यार। फिर लिखूंगी...।

अभिन्ना,

मंजु

सांझ के साए

२० नवम्बर, १६३८

प्रिय याज्ञिक,

उस दिन तुमसे कुछ कहना चाहता था लेकिन कह न सका। उसी बात को आज लिखकर कह रहा हूं। जानता हूं इस कहानी में जिन व्यक्तियों का जिक्र है वे सब अभी इस दुनिया में हैं। उनसे क्षमा मांगे लेता हूं क्योंकि कहानी वास्तव में उनकी नहीं है, मेरी भी नहीं है, मेरे मन की है। विज्ञान के इस युग में मैं और मेरे मन को सरलता से अलग-अलग किया जा सकता है। कभी-कभी तो मेरे अपने भीतर मैं तीन-तीन चार-चार व्यक्तियों को खोज पा लेता हूं।

लेकिन जाने दो इस मनोविज्ञान को। कहानी सुनो। जानते हो जब अनेक कठिनाइयों के बाद मेरा विवाह हुआ था तब मुझे कितनी बधाइयां मिली थीं। हर बधाई मेरे दिल को गुदगुदा देती थी। और मैं अनुभव करता था जैसे मैं बहुत खुश हूं। लेकिन क्या सचमुच मैं खुश था।

एक दिन मैंने अनुभव किया जैसे मेरे अपने अन्तर में कोई मुझे पुकार रहा है। पहचाना वह मेरा मन था। बोला, "तुम खुश दिखाई देते हो लेकिन हो नहीं।"

चकित स्वर में मैंने पूछा, "कैसे रे।"

वह मुस्कराकर बोला, "तुम्हारी पत्नी सुशिक्षित है परन्तु उसका रूप ? क्या वह तुम्हारे योग्य है ?"

एकबारगी कांप आया, "छिः छिः, क्या बोलते हो। तन का रूप दो दिन की शोभा है। मैं जिस रूप का उपासक हूं वह हृदय में बसता है।

मन क्रुद्ध हो आया। बोला, "तुम एकदम झूठे हो।"

"मैं"

"हां तुम।"

मैंने शान्त स्वर में कहा, "नहीं, नहीं, मैं सत्य कहता हूं। विज्ञापन में रूप का शब्द तक नहीं था। मैंने सदा यही माना है कि शरीर से बढ़कर हृदय की सुन्दरता है।"

विद्रूप से उसने उत्तर दिया, "यही तो, यह बात तुम इसीलिए कहते थे कि तुम रूप के अनन्य उपासक थे। बार-बार इन्कार का अर्थ है तीव्र वासना।"

मैं सिहर-सिहर उठा। कुछ कहना चाहा लेकिन वह बीच ही में बोल उठा—न, न, व्यर्थ चेष्टा मत करो। प्रमाण मेरे पास हैं। अनेक प्रार्थी हाथ जोड़कर तुम्हारे पास आते थे कि तुम उनकी लड़की का हाथ थामकर उन्हें मुक्ति दो लेकिन तुम थे कि सदा उनकी उपेक्षा करते रहे। तुम्हारा एक ही उत्तर था—'अभी विवाह नहीं करूंगा, क्षमा कर दें।' लेकिन जानते हो वह क्षमा-याचना उन अभागी कन्याओं के अभागे पिताओं के लिए क्या अर्थ रखती थी।

मैंने एकाएक तीव्र स्वर में कहा, "तुम झूठ बोल रहे हो। मैं सचमुच विवाह करना नहीं चाहता था। मैं उनको बुलाने नहीं जाता था। वे गिड़-गिड़ाते क्यों थे? लड़के की राह क्यों नहीं देखते थे?"

मन ठहाका मारकर हँसा, "लड़कीवाला लड़के की राह देखे। अपने को धोखा देना तुम खूब जानते हो। क्योंकि दुनिया तुम्हारा आदर करती है, क्योंकि तुम्हें विश्वास था कि कोई रूपसी एक-न-एक दिन तुम्हारे द्वार पर प्रार्थी बनकर आयेगी।..."

मैं चीख उठा, "चुप रहो।"

मन ने अत्यन्त मृदु स्वर में कहा, "उत्तेजित होना अपराध को स्वीकार करना है। क्या तुम्हें याद नहीं कि उस दिन जब तुम दफ्तर से लौट आये थे तुम्हारी मां ने तुमसे क्या कहा था...अब क्यों बोलोगे। मैं ही कहता

हूं। तुम्हारी मां ने कहा था, "तू पढ़ी-लिखी लड़की चाहता है, वह सचमुच पढ़ी-लिखी है। इसी वर्ष मैट्रिक किया है। प्रभाकर भी कर चुकी है। घर का काम-धन्धा खूब जानती है। सीधी ऐसी है कि सदा जमीन में दृष्टि गड़ी रहती है। और सुना है रूप में मानो देवी है।..." तब जानते हो क्या हुआ था तुमने एकाएक कहा था, 'हूं' बोलो, कहा था न ?"

मैं तब था भी और नहीं भी। उत्तर न दे सका। उसीने कहा, "यही लड़की तुम्हारी पत्नी है। यही लड़की है, जिसके कारण तुम्हें शत-सहस्र बधाइयां मिल रही हैं।"

मैंने गरदन नीची कर ली। मानो सिर झुकाकर उसकी सब बातें स्वीकार कर लीं। लेकिन दूसरे ही क्षण मैं कांप उठा और तीव्र स्वर में बोला, "लेकिन यह तुम ही हो जिसने यह आग लगाई है। यह तुम ही हो जिसने मेरे शान्त जीवन में अशान्ति के अंगारे दहकाये हैं।"

क्षण-भर के लिए जैसे तूफान आ गया। लेकिन जब शान्त हुआ तो मन वहां नहीं था। मैं एकाएक फुसफुसा उठा, "देवी का रूप। मुझे याद आ गया कि जब प्रथम दर्शन के समय मैंने अपनी पत्नी को देखा तो जैसे मैं चौंक उठा था—देवी का रूप, देवी का रूप यह !

लेकिन कह चुका था कि मैं रूप का उपासक नहीं हूं। इसलिए इस निराशा को पीकर भी मैं परम शान्त बना रहा। परन्तु रजनी की दृष्टि बड़ी तीव्र थी। एक दिन उसने एकाएक पूछा, "एक बात बताओगे ?"

मैंने मृदु मन्द स्वर में कहा, "पूछो।"

वह बोली, "सच बताओगे ना ?"

"तुमसे झूठ बोलूंगा !"

"तुम सुन्दर पत्नी चाहते थे न ?"

मैं इस प्रश्न के लिए एकदम तैयार नहीं था। विमूढ़-सा बोल उठा, "किसने कहा तुमसे ?"

"मेरे मन ने।"

"नहीं, नहीं। तुम सुन्दर हो। सुन्दरता शरीर की नहीं, हृदय की होती

है।"

उसके रोम-रोम से कृतज्ञता जैसे बरस आई हो। जैसे वह मेरे भीतर सिमटना चाहती हो। मेरी आंखों में प्यार का काजल लगाती हुई बोली, "सच कहते हो।"

"सच प्रिये।"

"मेरे प्रियतम।"

कहते-कहते उसने मेरे चरण छू लिये। मैं हिल-हिल आया। क्योंकि तभी छाती के भीतर बैठा कोई बोल उठा, "लबाड़ी कहीं के।" लेकिन यह आवाज इतनी धीमी थी और ठीक इसी समय मेरे एक मित्र भी आ गये थे इसलिए मैंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। उन मित्र की शादी अभी-अभी हुई थी। कुशल-क्षेम के उपरान्त मैंने पूछा, "पत्नी कैसी है?"

"इसी साल मैट्रिक किया है।"

"सुन्दर है?"

'हां।"

"तब मेरी बधाई स्वीकार करो।"

मित्र मुक्त मन खिलखिला आये। बोले, "पत्नी ठीक मिलती है तो जीवन में रस आ जाता है। मैं भाग्यशाली हूं। वे सभी लोग सुशिक्षित, सभ्य और प्रतिष्ठित हैं। लक्ष्मी की कृपा भी उनपर है।"

"अच्छा। तब तो सचमुच भाग्यशाली हो।"

लेकिन तभी एकाएक मेरा मन कड़ुवा हो उठा। छाती के भीतर का स्वर इस बार तेज था, 'सुना, भाग्यशाली यह है। रूप के भुलावे में तुम ठोकरें ही खाते रहे।'

मैंने तीव्रता से गर्दन को झटका दिया। चकित-विस्मित मित्र बोले, "क्या हुआ?"

मैंने कहा, "कुछ भी तो नहीं।" और मैं फिर बातों में घुलमिल गया। मित्र ने बताया कि उसके विवाह के अवसर पर अनेक प्रसिद्ध नेताओं के सन्देश आये थे। राजधानी के दैनिक पत्रों में विवाह की सूचना छपी थी।

ग्रौर हनीमून के लिए वे मसूरी गये थे।

मैं सुनता रहा ग्रौर खूब हँसता रहा। ज़ोर-से इसीलिए हँसना पड़ा कि मेरे भीतर जो मेरा मन बैठा था वह बहुत व्यथित हो रहा था ग्रौर बार-बार टोक देता था, "ग्रौर तुम्हारा विवाह," "ग्रौर तुम्हारा विवाह।" इसका परिणाम यह हुग्रा कि मित्र के चले जाने के बाद मैं क्रुद्ध हो उठा। चीखकर बोला, "रजनी ! मैं ग्रभी दफ्तर जाऊंगा। भोजन तैयार करो। तुम रोज देर कर देती हो।"

रजनी ने मृदु स्वर में उत्तर दिया, "ग्राइये न, ग्रापको स्नान ही तो करना है। भोजन तैयार है।"

लेकिन उस दिन मैंने स्नान नहीं किया। दफ्तर भी समय पर नहीं पहुंचा। मार्ग में न जाने कहां-कहां भटकता रहा।

फिर एक परिवर्तन मुझमें ग्रा गया। मित्रों के विवाह होते ग्रौर मैं तुरन्त कल्पना कर लेता कि उनकी पत्नियां सभ्य, सुशिक्षित ग्रौर रूपसि हैं। तब दिल में हूक-सी उठती। इतने ऊंचे स्वर में बधाई देता कि मित्र लोग भी विस्मत-विमूढ़ मेरी ग्रोर देखते रह जाते। ग्रौर तब मैं ज़ोर-से ग्रट्टहास कर उठता। जब-जब भी मैं ग्रपने मित्रों को पत्नियों के साथ घूमते देखता तो ईर्ष्या से मेरा तन-मन राख हो जाता।

एक दिन रजनी मेरे पास ग्राई। साहस बटोरकर ग्रत्यन्त मृदु स्वर में उसने याचना की, "ग्राग्रो, घूमने चलें।"

उपेक्षा से मैंने उत्तर दिया, "तुम जा सकती हो। कृष्ण को साथ ले जाग्रो।"

वह मेरे पास खिसक ग्राई। स्वर में ग्रौर भी मृदुता बटोरकर उसने कहा, "तुम नहीं चलोगे।"

मैं जैसे हिल उठा। उत्तर दिया, "मैं बहुत तेज चलता हूं ग्रौर दूर भी जाता हूं। तुम मेरा साथ न दे सकोगी।"

उसका मन बुझ गया। वह लौटने को हुई तो मैंने धीरे-से जैसे कोई सुन न ले, कहा, "सुनो शहर के बाहर मैं तुम्हें मिलूंगा। ग्रच्छा।"

याद नहीं आता। कभी रजनी को साथ लेकर गया हूं। लेकिन यह खूब याद है कि जब वह अपने पिता के घर चली गई तो मैं न विरह से व्याकुल हुआ, न लम्बे-लम्बे पत्र ही लिखे। एक दिन मैंने स्वप्न देखा जैसे तारवाला आया है' "बाबूजी, आपका तार है।"

"मेरा।"

"जी हां।"

तार लेकर पढ़ता हूं। लिखा है, "कल रात अचानक हृदय की गति बन्द हो जाने के कारण रजनी की मृत्यु हो गई।"

धक-से रह जाता हूं। जैसे संज्ञा खो जाती है। मां ने देखा। घबराकर पूछा, "क्या है रे, किसका तार है?"

"रजनी अब नहीं रही।"

मां चीख उठी, "क्या कहता है?"

क्षणभर में कोहराम मच उठा। बड़ी साध के बाद पाई हुई बहू को खोकर मां जैसे पागल हो गई। शोक प्रकट करनेवालों का अन्त नहीं था। लेकिन देखता हूं एक दिन इस शोक के स्थान पर एक नई समस्या पैदा हो उठी है। बन्धु-बान्धव बोले, "सन्तोष करना ही होगा। अभी उम्र ही क्या है। नया प्रबन्ध...।"

हत्भागा में उन्हें देखता ही रह गया, "क्या कहते हो? फिर विवाह करना होगा।"

वे बोले, "हां। वह तो सृष्टि का नियम है।"

मैंने चीखकर कहा, "मैं इस नियम को नहीं मानता।"

मुस्कराकर वे मित्र चले गये, दूसरे आ गये और एक दिन अपने निर्णय पर मैं स्वयं चकित हो उठा। मैंने कहा, "विवाह करने में मुझे आपत्ति नहीं, पर इस बार मैं विधवा से विवाह करूंगा।"

मुझे ठीक याद है। विरोध का एक बवंडर उठ खड़ा हुआ। मां की आंखों से अश्रुधारा रुकती नहीं। लेकिन मैं अडिग रहा। और कुछ दिन बाद पाया कि मेरी नई पत्नी परम सुन्दरी अक्षत योनि एक विधवा है। विवाह से

पूर्व ही मैंने उससे भेंट की। और अपने विचारों और अपने जीवन की भावी योजनाओं पर एक लम्बा वाद-विवाद किया। स्पष्ट कह दिया कि मैं तुम्हारे रूप के कारण तुम्हारा वरण नहीं कर रहा। मैं तुमसे सहयोग चाहता हूं। और जानता हूं कि तुम वह सहयोग दे सकती हो।

वह विवाह नहीं एक सामाजिक क्रान्ति थी। नेताओं ने मेरी पीठ थप-थपाई। पत्रों ने मेरे चित्र छापे। मित्र बधाई देते और गद्गद् हो उठते। पहली ही सन्ध्या को प्रभा मेरे पास आकर मृदु-मधुर कण्ठ में बोली, "उठो-उठो, घूमने चलें।"

जैसे मेरे चारों ओर सुगन्ध महक उठी हो। कहा, "चलो-चलो।"

दोनों पैदल ही चले। उस समय का उसका रूप जैसे रति पृथ्वी पर उतर आई हो। मैंने अपने होठ उसके कानों से छुआकर कहा, "प्रिय तुम बड़ी सुन्दर हो।"

उसका समूचा सौन्दर्य जैसे झिलमिला उठा। जैसे वह सारे-का-सारा मार्ग सुबह की धूप जैसा खिल आया। राह चलनेवालों ने हमारी ओर देखा, दुष्टता से मुस्कराये। दुकानदारों ने सहसा दृष्टि उठाई और चकित विस्मित देखते ही रह गये। ऊपर खिड़कियों से अनेक हसरतभरी नजरें हम दोनों पर आ-अटकीं। सब जैसे हमारे भाग्य को सराह रहे थे कि इसी समय सहसा न जाने कहां से कोई आ टपका। कर्कश स्वर में पुकारा, 'कान्त।'

मैं एकबारगी चौंक उठा। मानो किसीने मुझे नन्दन कानन से नीचे धकेल दिया हो। मानो मैं नहुष की तरह उल्टे मुंह पृथ्वी पर आ पड़ा हूं। न वहां प्रभा है, न उसका रति रूप, न मधुर मलयानिल। बस मैं अपने पलंग पर लेटा हूं, इधर-उधर पुस्तकें बिखरी हैं, कागज हवा में उड़ रहे हैं, तो···तो यह स्वप्न था। ओह!

सच अगर उस समय मेरे सामने कोई होता तो मैं उसका गला घोंट देता। पर देखता हूं, मां घबराई हुई ऊपर चली आ रही है, "अरे कान्त, तूने सुना। फिर दंगा हो गया। स्टेशन पर कहते हैं पांच आदमी मर गये।"

मैं ठगा-ठगा-सा बोल उठा, "कब ?"

"अभी-अभी प्रकाश आया है और यह देख यह तेरी चिट्ठी भी।"

मैं अब भी संज्ञाहीन-सा था। चिट्ठी खोली। रजनी की थी। लिखा था 'मेरा जी यहां नहीं लगता। मैं कल वहां पहुंच रही हूं।' कल यानी आज ? यानी अभी। उसकी गाड़ी तो अभी-अभी आई होगी।

मां ने पूछा, "किसकी चिट्ठी है ?"

मैंने बताया तो वह कांप उठी। अब क्या होगा ? मैं अब पूर्ण स्वस्थ्य हो चुका था। उत्तर दिया, "चिन्ता मत करो। मैं जाऊंगा।"

और तेजी-से मैं नीचे उतरता चला गया। मैंने हाथ में लाठी ली और निकल पड़ा, बाहर। भय से विह्वल मां बोली, "तू कैसे जायगा।"

किसी तरह मां को समझाकर मैं बाहर आया। देखता हूं मनहूस सन्नाटा चारों ओर छा गया है। झगड़े का स्थान दूर होने पर भी उसका प्रभाव बड़ा व्यापक है। कस्बे के लोग वैसे भी भय को अधिक पहचानते हैं। मैं और आगे बढ़ा। लेकिन जैसे-जैसे आगे बढ़ता था तैसे-तैसे सन्नाटा भी उभरता था। मैंने पुलिस को देखा और शहर के दरवाजे तक पहुंचते-पहुंचते उन्होंने मेरी लाठी रखवा ली।

एकाएक तब मेरा मन जाग आया। बोला, "पागल हो, कहां जा रहे हो ?"

मैंने उत्तर दिया, "रजनी आ रही है।"

"तो आने दो।"

"वह स्त्री है। घबरा जायगी।"

मन हँस पड़ा, "मूर्ख कहीं के। यही तो अवसर है।"

मैं एकाएक कांपा, "कैसा अवसर ?"

वह शरारत से धीमे-धीमे जैसे मुस्करा रहा हो। मैंने उसकी आंखों में वह शरारत स्पष्ट देखी। क्रोध से कांप उठा। लेकिन दूसरे ही क्षण लज्जा ने मुझे जकड़ लिया। चेहरा राख हो आया। भृकुटि तर्जन से जैसे मैंने अपने आपसे ही कहा हो, "उससे आज आने के लिए किसने कहा था ? मैं क्या

करूं। मरती है तो मरे।"

और मैं लौट पड़ा। आश्चर्य मैं तब भाग रहा था और मेरे साथ विचारों का तीव्र प्रवाह जैसे मेरे मस्तिष्क को मथ रहा था। एकाएक देखता हूं सामने मेरा घर है और घर के द्वार पर मां खड़ी है। वह कुछ पूछती कि मैं बोल उठा, "लड़ाई बहुत तेज हो गई है, मां।"

मां सकपकाकर बोली, "तो अब क्या होगा?"

मैंने भी जैसे उस प्रश्न को दोहराया। लेकिन उत्तर देनेवाला कौन था। मैं ऊपर चढ़ता चला गया। कमरे में प्रवेश किया। सामने टंगे रजनी के चित्र को देखा। लगा जैसे वह बोल उठी है, लेकिन नहीं वह स्वर मेरी मां का था। तभी नीचे झांककर क्या देखता हूं कि रजनी को आगे करके मेरे बड़े साले ने गली में प्रवेश किया है और मेरी मां का चेहरा प्रकाश से खिल-खिल आया है। लेकिन मैं...।

मैं जैसे था ही नहीं। जैसे आकाश टूटकर पृथ्वी पर आ रहा था। जैसे मेरे कमरे की दीवारें धरती में धंसी जा रही थीं। जैसे मेरे प्राण घुट रहे थे। लेकिन यह क्या। यह किसका स्पर्श। बड़े कष्ट से धीमे-धीमे आंखें खोलीं। पाया कि रजनी आकर मेरे चरणों में इस प्रकार झुक गई है मानो उठेगी ही नहीं।

●

एक पिता की सन्तान

एक दिन चौधरी रामबक्स सबेरे-सबेरे बड़ी तेजी-से सरदार गुरुबक्स-सिंह के घर की ओर जाते हुए दिखाई पड़े। उनके लम्बे-खुरदरे चेहरे पर नूर बरस रहा था। साफा फैलकर कानों तक आ चुका था और नेकर घुटनों से नीचे जाने में उनकी चाल से होड़ ले रहा था। हाथ में लालफीते से बंधे कुछ कागज थे, जिन्हें उन्होंने बड़े प्यार से छाती से चिपका रखा था। मिलने-जुलनेवालों ने उन्हें देखा, पर वह कन्नी काट गये। परन्तु एक मित्र थे कि आंखों में आंखें डाल दीं। पूछा, "अरे चौधरी, आज किधर ?"

चौधरी बरवस हँसे, "ऐसे ही ज़रा...।"

"ऐसे ही क्या ?"

"फिर बताऊंगा।"

"कोई गुप्त समाचार है क्या ?"

"बहुत गुप्त !"

"आखिर...?"

मित्र ने हठ की तो बोले, "आप तो मानते ही नहीं। अच्छा आओ... लेकिन खबरदार ! किसीको कानोकान खबर न हो।"

मित्र ने दांत निपोड़कर कहा, "हवा भी नहीं लगने दूंगा।"

तब चौधरी उन मित्र को लेकर सड़क के उस पार जो खण्डहर थे वहां पहुंचे। फिर शान्त भाव से एक टूटी दीवार पर बैठकर बोले, "पहले बीड़ी पिलाओ।"

"अजी, सिगरेट लो," मित्र ने जेब से पैकेट निकाला।

दो क्षण बाद चौधरीसाहब ने मुस्कराकर एक सिगरेट ली और लम्बा

कश खींचकर कहा, "अखबार तो तुम रोज ही पढ़ते हो ?"

"क्या करूं, बिना पढ़े रहा ही नहीं जाता।"

"यही हाल मेरा है। जानता हूं कि ये अखबार मिलाने से अधिक अलग करने का काम करते हैं, फिर भी सांप-छछूंदरवाली गति रहती है। तुम देख लो, एकता का आन्दोलन करते-करते इन लोगों ने भारत के दो टुकड़े करवा दिये।"

मित्र रहस्योद्घाटन के लिए उत्सुक थे, इसीलिए बोले, "तुम बिल्कुल ठीक कहते हो।"

"और यही हाल इन लीडरों का है। पहले हिन्दू-मुस्लिम-एकता के नाम पर डिनर खाते थे, अब भारत-पाकिस्तान-समझौते के नाम पर लंच करते हैं। बिदा के समय हाथ मिलाकर मुस्काते हुए वे एक दूसरे से कहते हैं, 'हमें खुशी है, हम मिले, मगर अफसोस है कि हम एकमत न हो सके, इसलिए निकट भविष्य में फिर मिलेंगे।' सौरे कहीं के, मिलेंगे क्यों नहीं। लंच और डिनर कहां मिलेगा। मैं कहता हूं, इस लंच और डिनर के लिए वे स्वर्ग और नरक में समझौता कराने भी जा सकते हैं...।"

चौधरीसाहब शब्दों को कुछ इस प्रकार चबा-चबाकर बोल रहे थे मानो लंच और डिनर दोनों का एक साथ रस ले रहे हों और मित्र थे कि हँसे चले जा रहे थे। इसपर चौधरीसाहब ने कहा, "तुम हँसते हो, पर जब मेरी बात सुनोगे तो दांतोंतले उंगली दबाओगे।"

मित्र बोले, "उसीके लिए तो बेताब हूं, हुजूर।"

चौधरीसाहब ने पूछा, "आप ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मंत्री मि० चर्चिल और अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व० रूजवेल्ट के नाम से तो परिचित हैं ?"

"जी हां, हूं।"

"और आप यह भी जानते होंगे कि युद्ध के जमाने में वे किस तरह घुल-मिलकर एक हो गये थे ?"

"जी हां। यह सबकुछ मुझे ऐसे याद है जैसे अपनी शादी की बात।"

चौधरीसाहब ने मित्र की उपमा पर ध्यान नहीं दिया। वह पूर्वतः बोलते रहे, "जानते हो, उसका क्या कारण था ?"

"कारण !...कारण तो यही हो सकता है कि वे शांति चाहते थे।"

"ऊहूं।"

"ऊहूं क्या ? वे हिटलर को हराना चाहते थे...!"

"नहीं...नहीं...नहीं, यह उनकी एकता का कारण नहीं था। चाहते तो हम भी बहुत-कुछ हैं, पर एकमत होकर कुछ नहीं कर पाते। वे कर पाये, इसका एक बहुत ही महत्वपूर्ण कारण था।"

"अच्छा क्या था, बताओ न ?"

"वह अखबारों में छपा था।"

"छपा होगा। शायद पढ़ नहीं सका...।"

चौधरी तब ऐसे मुस्कराये जैसे तीसरे विश्व-युद्ध के विजेता वही हों। बोले, "आठ पीढ़ी पहले चर्चिल-रूजवेल्ट का पुरखा एक ही व्यक्ति था।"

"क्या...?"

"जी हां।"

मित्र ने एक बार नेत्र मूंदे, फिर खोले पर वह इस रहस्य से उत्तेजित न हो सके। न रोमकूप खुले, न बाल खड़े हुए, पर चौधरी थे कि कहे जा रहे थे, "अगर रूजवेल्ट कुछ दिन और जीवित रहते तो इस बात का भी पता लगा लेते कि स्टालिन और उनका पुरखा किस पीढ़ी में एक था। यदि ऐसा हो जाता तो आज अमरीका और रूस में ठण्डा युद्ध न चलता...।"

मित्र अब ऊब चले। बोले, "ठीक है, लेकिन तुम्हारा इन बातों से क्या मतलब है ?"

इसपर चौधरीसाहब फिर मुस्कराये। साफे को कुछ ऊपर किया और कागजों का पुलिन्दा खोलकर एक टैग में बंधे दो-तीन कागज निकाले। उनको मित्र की ओर बढ़ाकर बोले, "पढ़ो।"

मित्र ने उन कागजों को लेकर ध्यान से देखा मानो उनमें किसी गुप्त खजाने का पता लिखा हो। उनपर तीन खाने बने हुए थे, और हर खाने में

नामों की एक लम्बी सूची बनी थी। वह कुछ नहीं समझे, बोले,"यहक्या है ?"

"पढ़ो।"

मित्र ने पढ़ा। तीनों खानों के ऊपर लिखा था—हिन्दू, सिख, मुसलमान। उनके नीचे की सूचियां ऐसे थीं।

रामबक्स,	गुरुबक्ससिंह,	अल्लाबक्स खां।
चन्दनसिंह	लालसिंह	खुदाबक्स खां
पहलादसिंह	सूबासिंह	मुनीर खां
पिरथीचन्द	पहाड़सिंह	मुस्ताक हुसैन
नत्थूसिंह	मंगलसिंह	गालिब हुसैन
फतेहसिंह	पंजाबसिंह	फत्थू खां
छोटूराम	बुधसिंह	नत्थू खां
लालचन्द	बरयामसिंह	महबूब खां
बुद्धिचन्द	बादलसिंह	अलाउद्दीन खां

पढ़ चुके तो पूछा, "यह क्या है, जी ?"

"नहीं समझे !"

मित्र को जैसे अन्तर्दृष्टि मिली। हँस पड़े। तो यह बात है, जनाब भी चर्चिल और रूजवेल्ट की तरह इस बात का पता लगा रहे हैं कि तुम लोगों के पुरखा किस पीढ़ी में एक पिता की सन्तान थे।"

"जी हां ! अब समझे !"

"बात तो मार्के की है।"

"अजी, बस पता लगने की देर है, फिर देखना कैसे सब समस्याएं सुलझती हैं। पाकिस्तान इसलिए बना कि हिन्दू-मुस्लिम-समस्या समाप्त हो, पर वह तो रक्तबीज की तरह और भी बढ़ गई और यही नहीं सिक्खों ने अलग सिक्खिस्तान की मांग पेश कर दी है।

मित्र बोले, "कर नहीं दी है, प्राणों की बाजी लगा दी है।"

चौधरीसाहब ने कहा, "जी हां। और उधर द्रविड़स्तान का नारा भी सुनाई पड़ रहा है। और इसी तरह अलग होने की प्रवृत्ति बढ़ती चली

जा रही है, इन सबका एकमात्र हल हमारे पास है। बस खोज पूरी होने दो। जब हम सबको यह पता लग जायगा कि हम सबके पिता एक थे तो सब झगड़े छू-मन्तर हो जायंगे...।'

और वह उठ खड़े हुए। मित्र ने तर्क करना चाहा, पर वह आगे जवाब देने के मूड में नहीं थे। तेज़ी-से वह एक ओर बढ़ गये और जब वह सरदार गुरुबक्ससिंह के घर पहुंचे तो वह वहां बड़ी व्यग्रता से उनकी राह देख रहे थे। बोले, "कहां रह गये थे, जनाब ?"

"माफ करना, एक नाम और मिल गया था; उसीके बारे में छानबीन कर रहा था।"

"कितनी दूर पहुंचे ?"

"पांच नाम और मिले हैं।"

"मैं भी तेरह तक पहुंच गया हूं।"

"तो फिर आओ, मिलाओ !"

"अभी लो, तुम्हारा अन्तिम नाम क्या है ?"

"धरमसिंह।"

"धरमसिंह ? सच !"

"हां।"

"यह तो मेरी सूची में भी है। उसका बेटा..."

"रामलाल ?"

"हां, हां आगे...?"

"चन्दा...करमा...।"

"बेशक, बेशक, बोले जाओ। बोले जाओ।"—चौधरी एकदम उछल पड़े, "अब तो मार लिया पापड़वाले को।"

"वाह-वाह...।"

"चरणसिंह...।"

"यह नहीं मिलता।"

"ठीक तो है, यही चरणसिंह अमृत चखकर सिक्ख बने थे।"

"सच, मेरी लिस्ट में तो करमा का बेटा प्रेमचन्द लिखा है। तब प्रेमचन्द ग्रौर चरणसिंह भाई-भाई थे ?"

"हां, हां, यही बात है। चरणसिंह के भाई का नाम प्रेमसिंह लिखा है। यही प्रेमचन्द होंगे। बेशक यही होंगे। लो चौधरी ! कितनी खुशी की बात है। ग्राखिर पन्द्रह दिन की मेहनत सफल हो गई।"

चौधरी खिलखिला पड़े, "क्यों न होती ? ग्राखिर हम सब एक ही तो हैं।"

"बिल्कुल एक। बस ग्रब ग्रल्लाबक्स की लिस्ट पूरी हो जाय। फिर तो..."

नाम लेना था कि ग्रल्लाबक्स खां सशरीर ग्रा पहुंचे। नीचे चारखाने का नया तहमद, ऊपर गंजी टांट शीशे की तरह चमक रही थी, कुरता इतना ढीला था कि एक मनुष्य ग्रौर समा जाय। जूता बिल्कुल नया था, इसीलिए चरमर-चरमर बोल रहा था। ग्राते ही बोले, "क्या बात है ? क्यों कूद रहे हो ?"

"पौ बारह है।"

"सच ?"

"ग्रौर नहीं क्या ? एक थे चौधरी करमसिंह। उनके दो बेटे थे। बड़े थे प्रेमचन्द। उनके हम हैं। छोटे चरण ग्रमृत चखकर चरणसिंह बन गये। इन्हींके वंश में ग्रपने सरदार गुरुबक्ससिंह हैं। ग्रब तुम बोलो। तुम क्या कर लाये ?"

"बस बाजी मार लाये।"

"यानी ?"

"यानी यह कि तुम जिन प्रेमचन्द ग्रौर चरणा की बात कह रहे हो, वे तीन भाई थे। प्रेमचन्द के पांच लड़के थे। उनमें से सबसे छोटे लड़के का पोता गुलाल कलमा पढ़कर बादशाह फरुखसैयद के वक्त में मुसलमान बना। हम उसीकी ग्रौलाद हैं...।"

इतना सुनना था कि सरदारजी ग्रौर चौधरीसाहब दोनों उछल पड़े,

"वाह, वाह, क्या कमाल किया तुमने, अल्लाबक्स।"

"वाह, वाह, हम सब भाई-भाई हैं।"

"बिल्कुल, बिल्कुल।"

"तो अब इस लिस्ट को साफ कर लेना चाहिए। टाइप करवाकर सब अखबारों में भेजनी होगी।"

"जरूर।"

"बस, अब देखना। जिस तरह रूजवेल्ट-चर्चिल का सितारा चमका था उसी तरह हम्र लोगों का भी चमकेगा।"

"हमारे साथ तो स्टालिन भी है।"

"क्या मतलब है?"

"हम तीन भाई।"

"ओ हो हो। यह ठीक है...। बहुत दूर की सूझी तुम्हें।"

अल्लाबक्स ने टांट पर हाथ फेरते हुए कहा, "अच्छा, अब कुछ देर आराम कर लें। लाओ सरदारजी, बीड़ी-बीड़ी हो तो दो।"

सरदारजी एकदम सहम गये, फिर मुस्कराये जैसे रो पड़ेंगे, "क्या बातें करते हो, जी?"

"क्या बातें? सरदारसाहब, बीड़ी का एक कश एक सांस की तरह होता है।"

चौधरी ने टोककर कहा, "अरे, तो बीड़ी मैं पिलाता हूं। सरदार भी कहीं बीड़ी पीते हैं।"

"ओ हो हो", खान हँस पड़ा, "माफ करना, मैं भूल गया था। समझा था कि हम सब एक हैं..."

"और वे तीनों हँस पड़े। सरदारजी बोले, "कोई बात नहीं। हम सब एक ही हैं।"

"...लेकिन खुशी का यह दिन यूंही नहीं जाना चाहिए।"

"तो फिर बताओ।"

"बताऊं क्या? होटल चला जाय।"

"तर कि खुश्क ?" रामबक्स ने हँसकर पूछा।

"तर।"

अल्लाबक्स एकदम चौंका, "तर का मतलब ?"

"शराब !" सरदारजी ने धीरे-से मुस्कराकर कहा।

खान ने एकदम कानों पर हाथ लगाया, "लाहोल विला कूबत। क्या नाम लिया तुम लोगों ने। तुम्हारे तो पड़ोस में भी रहना हराम है।"

उसके चेहरे पर सहसा सख्ती उभर आई और वह उठ खड़ा हुआ कि चौधरी फिर बोल उठे, "अरे नहीं, अल्लाबक्स, बैठ। कहां जाता है। आज इस खोज का नशा चढ़ा है न, सो गलती-पर-गलती हो रही है। पर ऐसे नाराज होंगे तो कैसे काम चलेगा। चलो, यहीं मिठाई मंगा लेते हैं।"

"हां, हां", सरदारजी बोले, "यह ठीक है।"

"तो फिर मैं ले आता हूं। चाय भी वहीं अच्छी मिलेगी।" अल्लाबक्स ने कहा और चल पड़ा। पर तभी चौधरी ने टोक दिया, "तुम लाओगे ?"

"हां।"

"मैं नहीं खाऊंगा।"

"क्यों ?"

"क्यों क्या ? तुम्हारी छुई चीज मैं कैसे खा सकता हूं। ईमान भ्रष्ट करोगे।"

सरदारजी रस लेकर बोले, "अरे चौधरी ! अब क्या हर्ज है। अब तो हम सब एक हैं। इन जरा-ज़रा-सी बातों में क्या रखा है।"

चौधरी के जैसे आग लग गई। कहा, "यह ज़रा-सी बात है। तुम शराब पी लेते हो, पर सिगरेट का नाम सुनते ही आग लग जाती है।"

सरदारजी तड़पकर उठे, "वह धर्म की बात है, हमारे धर्म में तम्बाकू पीना पाप है।"

"तो हमारे धर्म में म्लेच्छ का छुआ खाना पाप है।"

अल्लाबक्स चौंका, "मैं म्लेच्छ !"

"हां, तू म्लेच्छ, बकरा निगल जाता है, पर शराब को पाप मानता

है ।"

अल्लाबक्स ने आंखें तरेरीं, "आखिर है तो काफिर ।"

"मैं काफिर ?" चौधरी चीखकर उठा ।

देखते-देखते वहां संघर्ष की चिनगारियां उड़ने लगीं । शोर सुनकर सरदारनी अन्दर से दौड़ी आईं और ज़ोर-से दरवाजा भड़भड़ाने लगीं । पड़ोस में एक लालाजी रहते थे । वह वहीं से बोले, "सरदारजी, अजी सरदारजी ! क्या बात है ? आऊं क्या ?"

यह सब एक ही क्षण में हो गया । दूसरे क्षण वे तीनों झेंप आये । सरदारजी ने कहा, "कुछ नहीं लालाजी, कुछ नहीं । वैसे ही बातें कर रहे थे।"

और फिर मुड़कर साथियों की ओर देखा । उनका रंग लौट रहा था । चौधरीसाहब ने धीरे-से कहा, "हमारी खोज अभी अधूरी है । एक पिता की सन्तान तो हम हैं ही । पता अब दरअसल यह लगाना है कि आखिर हम अलग क्यों हुए ।"

उसके बाद वे तीनों मित्र इस नई खोज में लग गये, पर वह अभी समाप्त नहीं हुई है । इसलिए हम पाठकों के सम्मुख उसकी कोई रिपोर्ट पेश नहीं कर सकते ।

भाईसाहब

यह बात शेखर के मन में बहुत दिनों से खटक रही थी। आज यह चिट्ठी पाकर उसने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया।

"मैं अब उसे अपने पास नहीं रख सकता। जब वह मेरी चिन्ता नहीं करता तो मैं ही क्यों मोह-ममता में फंसा रहूं? सौभाग्य से डिप्टी कमिश्नर और पुलिस-कप्तान परिचित हैं, नहीं तो मैं कभी का मिट चुका होता।

"नहीं! मैं नहीं मान सकता। समाज में समानता कभी नहीं हो सकती। विरोध और विभिन्नता होना आवश्यक है। कैसे ये लोग एक अकर्मण्य को कर्मठ मनुष्य के बराबर बनाते हैं? साम्यवाद, समष्टिवाद और समाजवाद, यह सब आवारा और आरामतलब आदमियों के दिमाग की उपज हैं..."

तभी पैड़ियों पर खट-खट की आवाज हुई। देखा—अखिल आया है। चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। पुकारा, "अखिल।"

अखिल ने कहा, "आया भैया!"

शेखर ने चिट्ठी उठाकर अखिल की ओर फेंक दी और तीव्र स्वर में कहा, "आज इसका निर्णय हो जाना चाहिए।"

अखिल ने चिट्ठी उठा ली। पुलिस-कप्तान ने लिखा था—"आपका भाई अखिल क्रान्तिकारियों के साथ है। अगर आप उसे रोक नहीं सके तो मुझे दोष मत दीजियेगा...।"

चिट्ठी उसने पढ़ ली और लौटा दी। लेकिन बोला नहीं। जानता है, जो लिखा है, ठीक है। भैया उसे घर से चले जाने को कहेंगे, और वह चला जायगा। सिद्धान्त वह नहीं छोड़ सकता। लेकिन यह वह भी मानता

है कि रोज-रोज की झिक-झिक ठीक नहीं ..।

कुरसी की पीठ पकड़े इन्हीं विचारों में डूबता-उतरता वह खड़ा है। शेखर भैया भी लाल-लाल आंखें किये उसे देख रहे हैं। सोच रहे हैं--नहीं बोलता, मेरे बलबूते पर साम्यवाद की डींग हांकता है! लेकिन जब पैसे-पैसे को मुहताज होकर कंकड़ को हीरा समझेगा, तब सूझ पड़ेगा, समाज क्या चीज।

"हां तो मैं पूछता हूं, तुम कबतक मेरा सत्यानाश करते रहोगे?"

अखिल ने सिर उठाकर भैया को देखा और एकदम कह दिया, "मैं आज ही चला जाऊंगा, भया।"

भैया एकदम क्रोध से उबल पड़े, "क्या कहा? चले जाओगे? जाओ! जाओ, अभी निकल जाओ! मैं तुम्हारा मुंह नहीं देखना चाहता!"

अखिल को भी क्रोध आ गया। झपटकर बाहर निकला चला गया।

क्रुद्ध स्वर में शेखर ने नौकर को आवाज दी, "सोदान, सोदान!

सोदान वहीं दरवाजे से सटकर खड़ा था और सुन रहा था निष्प्राण होकर उनकी बातें। आगे आकर बोला, "जी।"

"अखिल के लिए मोटर ले आओ।"

सोदान लौट चला।

"मैं कहता हूं, तुम भागे क्यों जा रहे हो? सुनो, वह जो कुछ भी चाहे मोटर में भर दो। न आवे तो लारी मंगा लो।"

सोदान ने सुन लिया। लेकिन खड़ा रहा। कहीं वह कुछ और न कहें।

शेखर ने झिड़ककर कहा, "जाओ! खड़े-खड़े क्या देखते हो?"

सोदान चला गया। शेखर अकेला रह गया, सोचने लगा—मैंने ठीक ही तो किया है। गरीबों से प्रेम है तो अमीरी में क्यों रहे? उनके पास जाकर उन्हें समझे। गरीबी का व्रत ले। तब देखूंगा साम्यवाद के वे अनन्य पुजारी कितनी देर तक उसका साथ निभाते हैं...।

सोचते-सोचते वह बैठ गया। फाउन्टेन पेन निकालकर पैड पर कुछ लिखा। क्षण-भर ठुड्डी पर हाथ रखकर कुछ सोचा, फिर चिट्ठी को करीने

से मोड़कर लिफाफे में बन्द किया। पुकारा—सोदान !

कोई नहीं बोला।

झुंझला पड़ा—कितने शैतान हैं ये लोग ! नहीं सुनते, और इन्हींके लिए अखिल चाहता है समानता...।

और तभी खयाल आया—अरे हां, वह तो अखिल के साथ गया है।

... ...

घर के अन्दर बैठी है अमला। बैठी क्या है, सोच रही है। नौकरानी चौका-बरतन करके चली गई। मिसरानी न जाने कब की बैठी ऊंघ रही है। खाना-पीना हो ले, तभी तो जाय। आज कुछ नई बात है, यह वह जानती है। करे क्या, बड़े घर की बड़ी बातें। आग बुझ गई, भाजी ठण्डी हो गई तो बाबू एक कौर भी नहीं तोड़ेंगे। छेपटी और तिनके तोड़-तोड़कर आग सुलगाने लगी। तभी अमला ने आकर कहा, "बड़ी मां, तुम अब जाओ। बाहर बरफ पड़ने लगी है।"

अन्धा क्या चाहे, दो आंखें। बड़ी मां रुकी नहीं। दरवाजा बन्द करके अमला फिर कमरे में आ बैठी। अंगीठी ठंडी होने लगी थी। कोयले डाल दिये, फिर लहक उठी। सोचने लगी—ऐसे जाड़े में भी लोग बाहर सड़क पर पड़े होंगे। हम उन्हें कैसे जानें ? क्यों वे ऐसे रहते हैं ? अखिल कहता है—हमारा पाप उन्हें खा रहा। वह (शेखर) कहते हैं—उनके पूर्वजन्मों के बुरे कर्मों का फल है। पुनर्जन्म किसने देखा है ? सुना है, परम्परा से लोग ऐसे ही कहते आये हैं। अखिल की बात भी कैसे मानें, कैसे समझें ? हमारे पाप का दंड वे क्यों भोगें। दण्ड तो अपराधी को ही मिलता है, दूसरे को नहीं। इसीलिए तो उनकी बात सरल है।

"अमला।" अमला चौंकी। देखा पीछे न जाने कबसे शेखर खड़ा है। सीधे स्वभाव कहा, "भोजन लाऊं ?"

शेखर खोये-खोये-से स्वर में बोला, "अमला ! आखिर वह चला ही गया।"

"कौन ?"

"मैं कहता हूं, जब सिद्धान्त नहीं मिलते तो अपने रास्ते पर चलना ही ठीक है। अपनी बात के लिए दूसरे को कष्ट देना कहां का न्याय है? अच्छा। छोड़ो इन बातों को। तुम जानती हो, भला वह जाया कहां करता है?"

अमला अलिप्त-सी बोली, "नहीं जानती। पर सुनती हूं, वह अक्सर अनन्तगोपाल की बैठक में देखा जाता है।"

शेखर ने कहा, "तो अखिल की सारी किताबें वहीं भिजवा दो। ऐसी क्रान्तिकारी पुस्तकें अपने घर में नहीं देखना चाहता।

नौकर-चाकरों से भरे हुए घर में यह भी क्या अमला के करने की बात है? इसलिए क्या कहे? चुपचाप आग कुरेदने लगी। शेखर फिर खुली छत पर आ गया। खूब ठण्ड पड़ रही थी। कहते हैं कल बर्फ जम गई थी। आज आसमान साफ था, निपट नीला, चन्द्रमा भी निकल आया था, लेकिन उसने ध्यान ही नहीं दिया, घूमने लगा। उमड़-घुमड़कर विचार आते रहे—मेरा खयाल है वह अब लौटकर नहीं आवेगा। सिद्धान्त पर उसे समझौता करना नहीं आता, पर खरे आदमी कब दुनिया में सफल होते हैं...

ओह! दांत कट-कट करने लगे। बड़ी सरदी है...तभी अमला ने पुलओवर लाकर उसके कन्धे पर डाल दिया। धीरे-धीरे बांह भी ठीक कर दी। शेखर ने कृतज्ञता से गद्गद् होकर अमला की ओर देखा और पूछा, "क्या बज गया, अमला?

"यही दस का समय होगा।"

"देखो अमला! उस अखिल के जितने भी पुलओवर और गर्म कोट हैं, सबको उस चमड़े के बड़े बक्स में बन्द करके अनन्तबाबू की बैठक में भेज देना, कहना उसके सर पर पटक आवे।"

"अच्छा!" शान्त भाव से अमला ने कहा।

शेखर अन्दर आकर कुर्सी पर बैठ गया। तापने लगा। सामने अमला बैठी है। उसे देखने लगा। लेकिन उसे देख पावे जब न? बार-बार आंखों

में अखिल की मूर्ति उभर उठती है। ये लोग अपनी जेब का फाउन्टेनपैन निकालकर फेंक नहीं सकते। रिस्टवाच बिना रहा नहीं जाता। हमसे कहते हैं, तुम कार न रखो।

तभी सोचा—उसी दिन तो प्यारेलाल एण्ड संस के यहां एक कार का आर्डर दिया है। सोचा था, यह कार अखिल के काम आवेगी। कल आने पर उसके पास ही भेज दूंगा। दो का मुझे करना ही क्या है? अमला ही तो है।

अमला ने कहा, "मुझे नींद आ रही है। सोऊंगी। बज भी तो गये ग्यारह।"

अमला चली गई। शेखर सोचता रहा। यह अखिल जो है, इतना अडिग क्यों है। इसे कमी किस बात की है? फिर भी 'आ बैल मुझे मार' वाली बात क्यों? अरे! उनसे पार कैसे पड़ेगा? उनके पास शक्ति है, साधन है। मस्तक में विचार है और हाथ में काम करने की हिम्मत। हमारे पास विचार ही तो हैं, सो भी व्यक्तिगत, भिन्न-भिन्न।

"अमला"

अमला नहीं बोली। सो तो भला कैसे सकती है। चुपचाप स्वामी को टटोलना चाहती है।

वह उठा, "अमला! आज क्या खाना नहीं बना?"

मुंह ढके-ही-ढके वह बोली, "बना था। लाऊं क्या?"

अमला उठी। थाली परोसकर ले आई। टेबल पर रखकर तापने लगी।

शेखर खाते-खाते भी सोच रहा था घूम-फिरकर वही अखिल की बात—कल वह पुलिस-कप्तान के पास जाकर सारी बात कह देगा। दिखा देगा, राज-भक्ति पर वह अपने सहोदर का भी बलिदान कर सकता है। लेकिन यह जो अमला है, अखिल की भाभी। इसने तो एक बार भी अखिल की बात नहीं पूछी। यह अपने स्नेह को कैसे छिपा सकी है। मां जब मरी थी तब अखिल केवल दस वर्ष का था। तबसे आज तक भाभी ने

अपना बनाकर उसे पाला है। हिस्सा बटाने के लिए अपनी सन्तान भी तो नहीं है।

"पानी लाऊं?" अमला ने पूछा।

शेखर को बुरा लगा। पता नहीं क्यों? बोला, "ले आओ।"

अमला कांपती हुई पानी लाई। कुल्ला करके शेखर फिर अंगीठी के पास आ बैठा। अमला भी बैठी थी। अबकी बार कुछ-कुछ सटकर।

'अखिल भला कहां होगा?'--वह फिर सोचने लगा। उसे इस विचार से दुःख पहुंचा--मेरा उसका मतभेद है तो क्यों न हम अलग-अलग रहें? बंटवारा हो जाना ठीक है। सरकार भी तो यही चाहती है।

अब उसे प्रसन्नता होने लगी। अमला के कन्धे पर हाथ रखकर बोला, "अमला! देखो तो भला मेरी बैंक-पासबुक में कितना रुपया है?

"देखती हूं," और इधर-उधर टटोलकर लौट आई, बोली, "पचास हजार।"

"अखिल की में।"

"पांचसौ।"

शेखर चौंक पड़ा, "कुल पांचसौ। और क्या हुआ?"

"मैं क्या जानूं, किस-किसको बांटता फिरता है वह?"

और किताबें शेखर की गोद में डालकर तापने लगी।

उसने फाउंटेनपैन निकाला और तीस हजार रुपये अखिल के नाम करने की बात सोचने लगा। अब वह बहुत ठंडा पड़ गया था। क्रोध कभी स्थायी नहीं होता। स्थायी होती है घृणा, जो संस्कार बनकर रोम-रोम में रम जाती है।

... ...

उसे बैठे-बैठे तीन बज गये। दूर सड़क पर पहरेदार की आवाज अब साफ सुन पड़ रही थी। कभी-कभी कुत्ते भूंकने लगते थे तो भौंकते ही चले जाते थे।

अमला उठी, "सोओगे नहीं क्या, अब?"

"आता हूं।" धीरे-से उसने कहा।

अमला आकर पलंग पर लेट रही। सोना चाहती है, पर नींद नहीं आती। आंख मींच लेती है। ऐसे सांस लेती है, जैसे प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न हो। पर दूसरे ही क्षण चौंक पड़ती है--आंख मींचते ही धीरे-धीरे पास आकर कोई कह जाता है, "भाभी, ओ भाभी!" भाभी जानती है कौन बोलता है। फिर भी अनजान बनकर पूछती है, "कौन है रे, तू कौन?"

जब अबतक जानकर भी अनजान बनी रही तो अब कैसे जाने, कौन है वह!

शेखर भी उठा, धीरे-से अमला की बगल में आ सोया, करवट बदलकर, कहीं अमला जाग न जाय। अमला जाग रही है। मुड़कर स्वामी की ओर देखती है और मुंह फेर लेती है। दोनों पास लेटे हैं, सटे हुए-से फिर भी ऐसे हैं, जैसे बहुत देर प्रवाह में तैरते-तैरते दो पाट आ मिले हों, अजान-अनजान से।

शेखर सोचता है—आजकल विद्रोह करना कितना सस्ता है, जैसे बच्चे का रूठ जाना, और मरना, यह तो सिनेमा की तरह मनोरंजन का एक साधन बन गया है। जीवन को वे कुछ समझते ही नहीं, जैसे फूल सूंघा और पैरोंतले रौंद डाला...मानता हूं, जो दिनभर मेहनत करते हैं, उन्हें रात को भरपेट भोजन मिलना ही चाहिए, लेकिन एक को दूसरे के प्रति उकसाकर ये लोग क्या सफलता प्राप्त कर सकेंगे? मैं कहता हूं, रहा-सहा टुकड़ा भी छिनवा बैठेंगे। किसी भी युग में अधिकार अकड़ से नहीं मिलते। मुक्ति हमेशा बन्धन में ही प्राप्त होती है...।

अमला भी सोच रही है, सोच क्या रही है, जानती है—अखिल के बिना घर सूना-सूना रहेगा। पति-पत्नी दोनों एकमन होकर न रह सकेंगे। अखिल जैसे इन दोनों की संधि हो। दोनों रहेंगे पर दोनों को एक करनेवाला न होगा और उसीके अभाव में दोनों होकर भी अस्तित्वहीन बने रहेंगे...।

सोचते-सोचते दोनों सो गये या सोने का नाटक करते रहे। कौन जाने? पर अमला जब उठी तो दिन खूब चढ़ आया था। कुहरा इस ज़ोर का पड़

पाठक का बूढ़ा बाप या गनेश चतुर्वेदी का जवान बेटा निमोनिया की गोद में सो गया था। हरेक शब्द के साथ-साथ मानों वे कहना चाहते हैं—इस बार हम भी इन्हींमें गिने जा सकते हैं...।

अमला ने पुलओवर की पेटी कसी और बाहर निकल आई। शेखर को लेटे ही रहने दिया। पुकारा, "सोदान, सोदान !"

सोदान दुतही में लिपटा-लिपटा आया।

"जानते हो, अखिल कहां हैं ?"

"अनन्तबाबू के घर।"

"तो कहो, भाभी बुला रही हैं।"

थोड़ी देर बाद शेखर भी उठा। अंगड़ाई लेकर पेटी कसी। आंखें मलकर देखा, बड़े-बड़े बक्स खोले अमला बैठी है। ठूंस-ठूंसकर भर रही है उनमें कपड़े। नहीं समाते तो खीझती जाती है। चारों ओर कपड़ों और किताबों का ढेर-सा लगा है। उसने कुछ सोचा और सोदान को पुकारा।

सोदान उधर ही आ रहा था। आवाज के साथ ही कमरे में पहुंचा।

अमला उठी। जान गई थी, अखिल आ गया है। बैठक में जाकर देखा बात ठीक थी। मेज़ पर सिर दिये अखिल बैठा था। रोज की तरह उसने पुकारा—अखिल !

अखिल ने चौंककर सिर उठाया। आंखें रक्तिम थी।

अमला ने धीरे-से कहा, "छिः लाल आंखें ? जानती हूं, रात-भर नहीं सोये।"

और पास आकर उसका हाथ थपथपाती हुई बोली, "तुम नहीं जानते, अखिल, तुम्हारे भैया को मैं जानती हूं।"

अखिल रुंधे कण्ठ से बोला, "मैं उनसे क्षमा मांगने आया हूं, भाभी !"

"सिद्धान्त पर समझौता करोगे, अखिल ?"

"नहीं भाभी। केवल उन्हें स्पष्ट करूंगा। हिंसा में मेरा विश्वास नहीं...।"

"अच्छा-अच्छा, बैठो, मैं क्या जानूं, तुम्हारी बातें, केवल तुम दोनों को

जानती हूं।"

फिर लौट चली। उधर से शेखर आ रहा था। रास्ते में ही मिल गय वह उत्तेजित-सा हो रहा था, "मैं कहता हूं, वह किसी भी क्षण आत्महत कर सकता है। सुनती हो, अमला! सारी रात नहीं सोया। एक कपड़ा न ले गया। कहता है, जब जा रहा हूं तो भैया की कोई भी चीज क्यों लूं, मैं नहीं सह सकता...।"

अमला सुन रही है। उसके लिए अचरज की बात कुछ भी नहीं है सबकुछ जानती है। और वह कह रहा है, "तुमने उसे बिगाड़ दिया, अमल नहीं, वह तुम्हारे बिना नहीं रह सकता। मुझे उसे बुलाना पड़ेगा।"

बैठक आ गई। वह भी है, अमला भी और अखिल भी मेज पर सि रखे बैठा है।

शेखर अखिल को देखकर चौंक पड़ा।

अखिल ने सिर उठाया। कहा, "भैया!"

अनमना-सा और बहुत-कुछ सोचता हुआ शेखर कुरसी पर बैठ गय बोला, "कहो।"

अखिल चाहता है, अपनी बात कहे पर शब्द ढूंढे नहीं मिलते। भै फिर सिद्धान्त और ध्येय की बात कह बैठेंगे। रहेगा तो वह वहां है ही न फिर भी डरता है। नहीं बोला।

शेखर ने सोच-साचकर कहा, "देखो, अखिल! मैं जानता हूं, तुम अवे कहीं भी नहीं रह सकते। तुम्हारे है कौन? यह अमला है, तुम्हारी भा तुम्हारी मां! मैं भी उसके बिना नहीं रह सकता। इसलिए सोचता हूं, कहीं मत जाओ। केवल मुझसे अलग होकर रहो।"

अखिल के जी में आ रहा है, कह दे नहीं भैया। मैंने अब सोच लिया जाऊंगा मैं अवश्य। केवल अबतक के कष्ट के लिए क्षमा मांगने आया अब आप मेरे लिए कष्ट क्यों भोगें और रहने में मेरी बात भी तो गिर है...।

लेकिन कहता वह कुछ नहीं। सोचता हुआ बैठा है।

और वह शेखर भैया जो है, विचारता है—जाने मे तो यह और भी बिगड़ जायगा। अब तो हाकिम लोग मेरा लिहाज भी करते हैं। और तब... उसके सामने सहसा कई दृश्य उभर आये। जेल की कोठरी, काला-पानी, फांसी और न जाने क्या-क्या ! ओह ! समाचार-पत्र उसकी बात छापेंगे। मैं क्या बचा रहूंगा ? कहेंगे, उसका भाई था। कोई मुझसे सहानुभूति करेगा, तो कोई धिक्कारेगा।

नहीं, उसने निश्चय किया—मुझे अब खूब सोच-विचारकर कोई और निर्णय करना होगा। इसकी बात सोचनेवाला और है भी कौन ? बस ! अब उसने अभ्यासवश पुकारा, "अमला ! चाय भिजवाओ।"

फिर अखिल से बोला, "तुम तो चाय पीते ही नहीं, अखिल! अमला। इसके लिए दूध ले आना।"

अमला दूर कहां थी ? बोली, "कल आगरे से जो पेठा आया है, वह भी ले आऊं क्या ?"

"अरे हां, जरूर-जरूर, वह अखिल को बहुत पसन्द है। भला यह भी क्या पूछनेवाली बात थी, अमला !"

अमला हँसती हुई चली गई। अखिल आंखों में आंसू भरे विवश-सा बैठा रहा।

और शेखर ? वह मेज पर पड़ी हुई चिट्ठियों के टुकड़े-टुकड़े करके अंगीठी में फेंकने लगा। नन्हें-नन्हें टुकड़े करके बड़ी सावधानी से फेंक रहा था। कहीं कोने में पड़ा हुआ टुकड़ा उनका अस्तित्व साबित न कर दे। टुकड़े जलकर राख हो गये, तो भी बेंत से कुरेद-कुरेदकर उन्हें कोयलों के नीचे उसने दबा दिया।

•

बेटे की मौत

जब वे अस्पताल से उसके बेटे की लाश लेकर लौटे तो रात पड़ गई थी। उसने अन्दर आकर कमरे में पड़े हुए पलंग को हटा दिया। जो बिस्तर था उसे धरती पर बिछाकर बोला, "मेरे बेटे को यहां लिटा दो।"

लानेवालों में से एक ने धीरे-से कहा, "पलंग क्यों हटा दिया, तुमने ? उसीपर लिटाना ठीक रहता।"

वह मुस्कराया, "मां की छाती से बढ़कर बेटे के लिए और कौन-सा स्थान होगा।"

अचरज से उन लोगों ने उसे देखा और फिर बिना एक शब्द बोले एक पवित्र और बहुमूल्य वस्तु की तरह लाश को धरती पर लिटा दिया। लिटा-कर वे सब कई क्षण बुत की तरह खड़े रहे और वह अपने बेटे के वस्त्रों को ठीक करता रहा। वह बिल्कुल शान्त और निर्द्वन्द्व था। धीरे-धीरे उसने लम्बी चादर को चारों ओर से खींचकर ठीक कर दिया, जिससे बेटे का कोई अंग न दिखाई पड़े। फिर बिस्तर के मुड़े हुए कोने खोलने लगा। इसी समय एक व्यक्ति, जो अपेक्षाकृत युवा था, बोला, "चाचा, मैं आपके पास ठहरूंगा।"

उसने उसी गम्भीरता से कहा, "नहीं ! आप सब जा सकते हैं, मुझे डर नहीं लगता।"

युवक मुस्कराया, "डर की बात नहीं, चाचा। फिर भी मैं चाहता हूं..."

वह भी मुस्कराया, "धन्यवाद ! परन्तु मैं चाहता हूं, आप लोग मुझे अकेला छोड़ दें। मैं अन्तिम बार उसके पास अकेला रहना चाहता हूं...।"

उन लोगों ने एक बार फिर उसको देखा। उसके मुख पर अशान्ति

का काई लक्षण नहीं था। वह भयानक रूप से गम्भीर था। यह बुरा था, लेकिन तो भी वे लोग बहस नहीं कर सकते थे, इसलिए एक-एक करके चुपचाप जाने लगे। सबसे पहले उसका पड़ोसी बिना बोले ही चला गया। वह कुछ कमजोर दिल का आदमी था। उसके आंसू रास्ता टटोल रहे थे। उसके बाद बूढ़ा अब्दुल्ला चलने को हुआ। उसने जाते हुए कहा, "बाबू केदारनाथ! सबेरे मैं आऊंगा। तबतक के लिए अलविदा, खुदा हाफिज।"

जवाब में केदारनाथ ने मुस्कराकर हाथ उठाया और फिर चुपचाप लाश को देखने लगा। तीसरी बार रामनाथ अपने स्थान से हटा। उसने दर्द-भरी आवाज में कहा, "जीवनभर जिस सरकार की तुमने सेवा की, उसीने क्षण-भर में तुम्हारे निर्दोष बेटे को मार डाला।"

केदारनाथ ने उसका कोई उत्तर नहीं दिया। केवल उसकी मुद्रा कुछ कठोर हो गई। रामनाथ चला गया। उसीके साथ वह युवक भी रवाना होगया। उनका देर तक वहां रहना खतरे से खाली नहीं था। क्षण-भर वह उनकी ओर दृष्टि उठाये उनके कदमों की डूबती आवाज सुनता रहा, फिर किवाड़ बन्द करके बेटे के पास लौट आया। अब वह कमरे में अकेला था। उसका दिल टूट रहा था। उसके शरीर में एक गहरी सिहरन दौड़ रही थी। वह स्वयं अचरज कर रहा था—वह अबतक रोया क्यों नहीं? कैसे सबके सामने इतनी आश्चर्यजनक दृढ़ता बनाये रख सका? पर सब चले गये तो वह दृढ़ता टूटने लगी। उसका कलेजा उमड़ पड़ा। आंसुओं की बड़ी-बड़ी बूंदें फर्श पर टपकने लगीं। यह तूफान की सूचना थी। बांध में का एक छिद्र प्रलय की निशानी है। देखते-देखते उसकी हिचकियां बंध गईं। वह वहीं लाश के पास गिर पड़ा और सुबक-सुबककर रोने लगा। सुबकियों के पीछे जो उत्तेजित विचार-धारा थी उसने उसे और भी बेबस कर दिया। परमात्मा के प्रति उसका विश्वास खंडित हो चला। वह एक उच्च सरकारी नौकर था। उसका बेटा अभी अफसर बननेवाला था। उसने अपने जीवन में कभी भी राजनीति में भाग नहीं लिया था। उसे राजनीति से चिढ़ थी। वह अपने मित्र से मिलकर लौट रहा था, तभी उन मदांध गोरों ने उसे

गोलियों से भून डाला। मूर्ख, कमीने ! वे दोस्त-दुश्मन की तमीज नहीं कर सकते थे। वे हिन्दुस्तानी मात्र को नष्ट करना चाहते थे। वे...

इसी समय सहसा वह चौंक पड़ा। उसने गरदन को झटका दिया। वह विचारों की दुनिया में बहुत दूर चला गया था। उसने सुना, बाहर दरवाजे पर कोई पुकार रहा था।

वह अचकचाया—इस समय कौन !

एक कोमल आवाज आई, "किवाड़ खोलो !"

अन्धकार गहरा हो चला था। बाहर सड़क पर बिजली का प्रकाश तेज था और उसी प्रकाश में सैनिक राइफल थामे, मार्च करते हुए, आते और चले जाते। उसी आवाज से चिढ़कर कुत्ते भूंकने लगते और सन्नाटा रो पड़ता। उसने डरते-डरते किवाड़ खोल दिये और अचरज से देखा—सामने एक लड़की खड़ी है।

क्षण-भर वह उसे भौंचक देखता रहा, फिर यंत्रवत् बोला, "जल्दी करो, अन्दर आ जाओ।" लड़की अन्दर आ गई। वह उसे पहचानता था। मां के साथ उसके पड़ोस में रहती थी। उसका बाप पिछले साम्प्रदायिक दंगे में मारा गया था और तबसे उसकी मां एक असहाया की भांति सूत कातकर या लिफाफे बनाकर जीवन बिता रही थी। इन मां-बेटी के बारे में अक्सर जो कुछ उसने सुना था वह बहुत अच्छा नहीं था...।

लड़की बोली, "चाचा, रोशनी नहीं करोगे ?"

"करता हूं, बेटी", उसने कहा, और स्विच दबा दिया। कमरा जगमगा उठा। उसने देखा, लड़की बेहद गम्भीर है। आंखों में गहरी वेदना है और हाथों में एक कटोरदान।

लड़की ने बिना बोले, चुपचाप कटोरदान का ढकना हटा दिया। उसमें कुछ फूल और घिसा हुआ चन्दन था। वह समझ न सका। लड़की बोली, "मैं पूजा कर सकती हूं।"

"किसकी पूजा ?"

"इनकी।" लड़की ने लाश की ओर संकेत कर दिया।

बाबू केदारनाथ के नेत्र सजल हो आये। उनके मस्तिष्क में कई धूमिल प्रश्न उठे, परन्तु समय प्रश्नों का नहीं था। इसलिए उन्होंने बेबस कहा, "कर लो, बेटी।"

तब वह लड़की लाश के पास बैठ गई। बड़ी आहिस्ता से उसने मुख के ऊपर का कपड़ा हटाकर मस्तक पर चन्दन का टीका लगा दिया। फिर फूलों को छाती पर बखेरकर वह उठ खड़ी हुई। उसने कपड़े को फिर उसी तरह दबा दिया जिस तरह हवा लगने के डर से मां बेटे को या प्रेयसी प्रियतम को ढक देती है। उसके बाद वह पैरों के पास आई, चुपचाप उन्हें छुआ और लौट चली। उसकी आंखें भर आई थीं और आंचल के छोर से उन्हें पोंछकर वह अपनेको रोकने की भरसक चेष्टा कर रही थी। केदारनाथ ने इस मूक वेदना को देखा। उससे रहा नहीं गया। बोला, "एक बात बताओगी बेटी?"

"जी।"

"तुम इसको जानती थीं?"

"जी। इन्हींके कारण हम आज तक जिन्दा हैं।"

"क्या यह तुम्हारे पास जाता था।"

"जी...।"

लड़की कुछ अचकचाई। केदारनाथ का दिल धक-धक कर उठा। सहसा वह क्रुद्ध हो आये, यह दुष्टा यहां इस समय क्यों आई है? क्या यह मरने के बाद उसके एकमात्र बेटे को पाप में लथेड़ना चाहती है? क्यों...?

तभी लड़की फिर बोली, "आपको दुःख होता है शायद। पर हम लोगों के लिए वह क्या थे यह आप नहीं जानते। बाबा के मरने के बाद दुनिया में अन्धेरा-ही-अन्धेरा था। हमने मरने का निश्चय कर लिया था। लेकिन अचानक एक दिन ये हमारे घर आये। बहुत देर तक मां से बातें करते रहे इन्होंने कहा, 'मरना आसान है, जीना मुश्किल। इन्सान मरने के लिए नहीं। उसे कठिनाई को आसान करना है।"

मां बोली, "तो क्या करूं?"

"जीओ।"

"कैसे ?"

"मन में चाह पैदा करो। हाथों में शक्ति स्वयं आयेगी।"

"इनकी यही बात मेरे मन में चुभ गई थी और इसीलिए आज तक साधनों के अभाव में भी हम जी रहे हैं और जीते रहेंगे।"

केदारनाथ का मन बेटे की मौत के दर्द से भरा होकर भी विचलित हो रहा था। उसके मन में इतने विचार उलझ रहे थे कि वह झुंझला उठा था। लेकिन सामने बेटे की लाश पड़ी थी। उस बेटे की जो शीघ्र अफसर बननेवाला था परन्तु सैनिकों की गोली खाकर प्राण दे चुका था और यह बदनाम लड़की उसकी पूजा करने आई है। पूजा वही करता है जिसमें श्रद्धा है। श्रद्धा का कारण प्रेम है। तो यह लड़की उसके बेटे से प्रेम करती है? तभी एक बात होठों तक आकर रह गई। वह चाहकर भी चुप रह गया। यद्यपि उसका लड़का मर चुका था तो भी वह उसके चरित्र की उज्ज्वलता पर धब्बा लगता हुआ नहीं देख सकता था। उसे अपने बेटे पर नाज था। उसने कुछ कठोरता से कहा, "तुम अब जा सकती हो, लड़की।"

लड़की बोली, "हां, मैं अब जाऊंगी, चाचा। आप डरें नहीं। आपका पुत्र महामानव था। वह जबतक जिया, शान से जिया। जब मरा, शान से मरा। ऐसी शान से कि दुनिया उससे रश्क करती है।"

केदारनाथ झुंझलाहट से भर चला था। उसने कहा, "लड़की, तुम क्या बक रही हो, मेरी समझ में कुछ नहीं आता। उसका किसी भी दल से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह धोखे का शिकार हुआ है।"

लड़की मुस्करा उठी, "चाचा! तुम्हारे बेटे को तुमसे ज्यादा मैं जानती हूं। उन्होंने जीवन में कभी धोखा नहीं खाया। वह जान-बूझकर आग में कूदे हैं।

केदारनाथ अचकचाया, "क्या! तुम आखिर क्या कहना चाहती हो?"

लड़की कुछ कहे कि द्वार पर फिर आहट हुई। वह बोली, "कोई है, दर-

वाजा खोल दो, चाचा।"

"कौन है ?"

किसीने दरवाजा फिर थपथपाया। केदारनाथ हत्बुद्धि-सा आगे बढ़ा और किवाड़ खोल दिये। दो युवक अन्दर आकर खड़े हो गये। वे परम शान्त थे। उनके हाथ में दो राष्ट्रीय झण्डे थे। उन्होंने लड़की को देखा। एक जो अपेक्षाकृत युवक था बोला, "बिन्दा, तुम यहां हो।"

लड़की बोली, "करफ्यू के कारण मैं जल्दी चली आई थी। कोई भय तो नहीं है ?"

"नहीं।"

दूसरे युवक ने आगे बढ़कर लाश को झण्डों से ढक दिया। फिर दोनों मिलकर उसे आहिस्ता-आहिस्ता ठीक करने लगे। केदारनाथ ने अचरज से यह सब देखा। उसकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। उसने चकित-विस्मित होकर कहा, "आप लोग कौन हैं ?"

पहला युवक बोला, "आप शायद साथी मोहन के पिता हैं ?"

"हां, वह मेरा बेटा था।"

"आप खुशकिस्मत हैं।"

"लेकिन आप लोग कौन हैं ?"

"हम...।"

"हां...!"

"बिन्दा ने आपको कुछ नहीं बताया ?"

बिन्दा हँसकर बोल उठी, "मैं बदनाम हूं। ये मेरा विश्वास नहीं कर सकते थे।"

दूसरा युवक मुस्कराया, "हम लोग केवल देश-सेवक हैं। भारत की आजादी हमारा लक्ष्य है।"

"लेकिन मेरे बेटे से आपका क्या सम्बन्ध है ? आपको शायद गलत-फहमी हुई है। वह राजनीति से घृणा करता था। वह धोखे से मारा गया है। वह अफ़सर बननेवाला था।"

पहले युवक ने केदारनाथ को परम शांति से देखा और कहा, "मोहन हमारा नेता था।"

"नेता...!"

"जी।"

"लेकिन..."

"कोई फिकर नहीं। वह धोखे से नहीं मारे गये। उन्होंने एक उद्देश्य के लिए जान-बूझकर प्राण दिये हैं।"

"लेकिन आप बताइये तो आप क्या चाहते हैं।"

पहला युवक बोला, "कोई विशेष बात नहीं, महोदय। मोहन हमारा नेता था। उसने राष्ट्रीय प्रतीक की प्रतिष्ठा के लिए अपने प्राणों को तुच्छ समझा। उस रास्ते पर चलनेवालों में जिनके सिर पर गांधी टोपी होती थी उनको गोरे सैनिक पकड़ लेते थे। फिर उनसे कहते—टोपी उतारो और उसपर थूको। प्राणों से जिन्हें मोह था वे ऐसा करके चुपचाप आगे बढ़ जाते थे। जो निर्मोही थे वे टोपी उतारने से पहले प्राण दे देते थे। परन्तु साधारण जनता में इतना साहस नहीं था। उस दिन कई टोपियां गोरे सैनिकों के बूटों के नीचे कुचली गईं। टोपी देखने में गोल कपड़ा है, परन्तु वह कपड़ा राष्ट्र की प्रतिष्ठा का प्रतीक है। अपनी प्रतिष्ठा पर गोरे के बूटों का आघात हमने सुना। हमारा खून खौल उठा। यद्यपि भयंकर आग सुलग रही थी, उसमें जाना मौत को गले लगाना था, लेकिन मोहन ने कोई परवा नहीं की। वह दृढ़ता के साथ उस मार्ग पर चला गया। उसने प्राण दे दिये, पर टोपी नहीं उतारी। जिस समय मैंने लाश को उठाया था टोपी उसकी कमीज के नीचे थी...।

केदारनाथ पागल हो रहा था। वह जानता था, मोहन अपने एक मित्र के पास गया था। लौटते समय उसे गोली लगी थी। आज सन्ध्या को उसकी लाश उसने अस्पताल से प्राप्त की थी, और ये कहते हैं...

उसने पूछा, "आपने लाश को उठाया था?"

"जी! गोरे सैनिक न जाने कितनी लाशें गायब कर चुके हैं। कल रात

बिन्दा की सहायता से मैं उसे नाले से निकाल लाया था। उस सड़क पर डाल दिया था, जहां से फौजी लारी उठाकर अस्पताल पहुंचा आई। हम उसे घर लाना चाहते थे परन्तु चांदनी रात के कारण संभव न हो सका।"

केदारनाथ की आंखों के आगे से परदा हटता जा रहा था। वह समझ नहीं पा रहा था, वह क्या कहे, क्या करे? वह जानता था, मोहन उसका पुत्र है। उसमें विद्रोह की गन्ध भी नहीं आती। वह कम्पटीशन के लिए जी-जान से तैयारी कर रहा था। लेकिन ये जो बागी हैं, जो सरकार के दुश्मन हैं, ये कहते हैं मोहन उनका नेता था, उसने देश की प्रतिष्ठा के लिए हँसते-हँसते प्राणों का बलिदान किया है...

इसी समय वे दोनों युवक उठे। बोले, "चलो बिन्दा, अब चलें।"

वे सब मुड़े, तभी केदारनाथ आगे बढ़ आया। द्रवित होकर बोला, "मेरे बच्चो! क्या सचमुच मोहन ने जान-बूझकर प्राण दिये हैं। सैनिकों ने उसे धोखे से नहीं मारा?"

"नहीं।"

"वह कबसे तुम्हारे साथ था?"

"वह हमारा साथी था, सदा का साथी।"

केदारनाथ ने ठण्डी सांस भरी, आंखों में आंसू भर आये। बोला, "तो उसने मुझे धोखा दिया। सदा धोखा दिया। वह समझता रहा मैं सरकार-परस्त हूं। मैं उसे आजादी की जंग में नहीं जाने दूंगा। उसने मुझे पापी समझा। मेरे बच्चो। तुम्हारे उस महामानव ने मुझे देशद्रोही और गद्दार समझा..."

कहते-कहते अधेड़ केदारनाथ की सिसकियां बंध गईं। उससे खड़ा नहीं रहा गया। वह बैठता-बैठता वहीं बेटे की लाश के पास खड़खड़ाकर गिर पड़ा। बिन्दा घबराकर दौड़ी, उसे संभालती-संभालती बोली, "नहीं, नहीं। चाचा! वह तुम्हें पापी नहीं समझते थे। वह तुम्हें बेहद प्यार करते थे।"

"बेशक" पहले युवक ने कहा, "मोहन सदा तुम्हारी तारीफ करता था"

और दूसरा युवक बोला, "युद्ध में जाने से पहले उसने मुझसे कहा था—

मेरे पिता को अपना पिता समझना।"

वह उठ बैठा। उसने आंखें पोंछते हुए कहा, "अहा, मेरे बच्चो, तुम कहना चाहते हो वह गद्दार के साथ मुझे कायर भी समझता था। यह उसकी भूल थी। वह अगर देश के लिए मर सकता है तो मैं क्यों नहीं मर सकता? आखिर वह मेरा बेटा था, बेटा...।"

और इतना कहकर केदारनाथ शान्त मन सीधा खड़ा हो गया। बोला "अब तुम जा सकते हो मेरे बच्चो, मैं स्वस्थ हूं।"

●

राजनर्तकी और क्लर्क का बेटा

परमसुन्दरी तारा के कठघरे में खड़े होते ही न्यायालय में सन्नाटा छा गया। सभीकी इन्द्रियां उसकी रूप-माधुरी का रस पीने लगीं। विशाल भूधरों के बीच शोर मचाती हुई धारा आज समतल भूमि की सरिता बनी हुई थी। इसीलिए उसके शान्त रूप की मोहिनी ने सबको वशीभूत कर लिया। रूप की भांति उसके कण्ठ की ख्याति सीमाएं तोड़ चुकी थी। जिस प्रकार पर्वत-प्रदेश की उथली, पर वेगवती धारा की कोई साहसी ही थाह ले सकता है, उसी प्रकार सुन्दरी तारा के साहचर्य का लाभ कोई विरला भाग्यवान ही प्राप्त कर सकता था। शेष दुनिया उसे स्वर्गलोक की उर्वशी के समान कल्पना की ही वस्तु समझती थी। इसलिए जैसे ही उसने दृष्टि उठाई न्यायाधीशसहित सबकी दृष्टियां झुक गईं। उसके कजरारे नयन आज भी नहीं अलसाये थे। उसके नाना सुगन्धों से सिक्त, स्निग्ध केश-पाश में मन्दार-पुष्प उसी प्रकार सुशोभित था, जिस प्रकार हिमशिखरों के ऊपर के नीलाम्बर में इन्द्रधनुष। ऊपर से जो वैराग्य उसपर छाया-सा दीखता था उसने उसके रूप-लावण्य को हिमप्रदेश के संध्या-कालीन सूर्य के समान बना दिया था। उसने जैसे ही कण्ठ खोला, न्यायालय में मानों संगीत बहने लगा। मौन-विमुग्ध वे सब समतल भूमि के उस यात्री की भांति, जो हिमप्रदेश में पहुंचकर प्रकृति के संगीत में खो जाता है, पागल हो उठे। कई क्षण वे कुछ समझ ही नहीं सके। जब जागे तब वह रूपसी कह रही थी (वस्तुतः वह अपना लिखित बयान पढ़ रही थी)--

"मेरा जीवन एक खुली हुई पुस्तक है। कम-से-कम अभी कुछ समय पूर्व तक संसार यही मानता था। आकाश का अर्थ है—जहां कुछ नहीं

केवल रूपहीन वायु है, परन्तु वैज्ञानिक बताते हैं कि संसार के सारे रहस्य इसी आकाश में भरे पड़े हैं। मेरे निर्द्वन्द्व जीवन में द्वन्द्व कुछ इसी तरह समाया हुआ है। मेरे रूप-यौवन की सम्पदा के नीचे मेरे वंश-कुल की कृपणता भी कुछ इसी तरह छिपी हुई है। स्वयं मैं उसे अपने स्मृति-पटल से धो चुकी थी, पर सहसा भूचाल आया और गर्त में समाई हुई रेखाएं फिर प्रकाश में चमक उठीं। मेरी जीवनधारा का मार्ग पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया। क्षण-भर में रूप की रानी और रागनियों की प्रतिमा हत्यारिन बन गई...!"

जैसे न्यायालय ने स्वयं उस भूकम्प को अनुभव किया। सब 'क्षुरस्य धारा पथगामी' की भांति कांप उठे, पर रूप की रानी क्षण-भर के लिए भी नहीं झिझकी। वह पढ़ती रही—

"मैं हत्यारिन बन गई। क्यों और कैसे बन गई, यही मैं आपको बताने जा रही हूं। मैंने जो कुछ किया है, जानबूझकर किया है। आप कह सकते हैं, या कम-से-कम मनोवैज्ञानिक कह सकते हैं कि जो कुछ हुआ है वह जान-बूझकर नहीं किया गया वह तो एक उन्माद के प्रभाव से, एक नशे में हुआ है। ठीक है। मनुष्य का समूचा जीवन एक नशा है। उस नशे के उतर जाने पर जीवन के जीने के लिए कुछ भी नहीं रह जाता, इसलिए मैं स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करती हूं—मैंने वीरगढ़ की राजमाता की हत्या की है। मेरे अतिरिक्त उस विषय में और कोई कुछ नहीं जानता। आपको सम्भवतः अचरज होता होगा। मुझे भी हुआ था। यह सब स्वाभाविक है, पर मैं आपके उस अचरज को दूर कर देना चाहती हूं। उसके लिए मैं आपको सब कथा सुना देती हूं। उसे सुनकर आप वास्तविकता और सत्य दोनों को जान लेंगे...।"

कोकिल-कण्ठी क्षण-भर रुकी। एक बार नेत्रों को मूंदा और फिर बोलने लगी, "सब लोग जानते हैं कि वीरगढ़ के महाराज मेरे परम प्रशंसक और मित्र रहे हैं। हिन्दू नारी के लिए पति जो कुछ होता है उससे कम वह मेरे लिए नहीं रहे। अब भी नहीं हैं। मैं अपनी प्रशंसा नहीं करती। मैं अपने

को जानती हूं। रूप की मानिनी जो किसीकी नहीं हो सकती, वही मैं भी हूं; पर किसीकी न होकर भी मैं सबकी नहीं थी और न हूं। इसी दृष्टि से आप समझें कि मैं महाराज की क्या थी...।

"एक समय मैं उनके उपवनवाले आनन्दभवन में ठहरी हुई थी तब एक दिन एक विचित्र घटना घटी। मैं प्रातःकाल के समय साधारण वेशभूषा में पुष्पवाटिका में अकेली घूम रही थी। अचानक तभी महाराज उधर आ निकले। वह नीची दृष्टि किये आ रहे थे। सहसा मेरी पदचाप सुनकर उन्होंने दृष्टि उठाई। जैसे उनका पैर अग्नि-कुण्ड पर पड़ा हो, वह सिहर उठे! फिर कांपते हुए मुझे देखा, ऐसे, जैसे मैं किसी रहस्य-लोक की वासिनी हूं। मैंने उनकी उद्विग्नता को देखा, कुछ मुस्कराई, पूछा, 'क्यों? क्या हुआ? आप डर क्यों गये?'

"उन्होंने सहसा उत्तर दिया, 'नहीं! नहीं तो कुछ नहीं...।'

"पर दूसरे ही क्षण वह सम्हले और हँसकर बोले, 'अपने हृदय में स्थित तुम्हारी प्रतिमा की उपासना में मैं इतना तन्मय था कि सहसा तुम्हें बाहर पाकर विस्मित हो उठा!'

"मैं हँस पड़ी, 'प्रेम करते-करते आप तो कवि हो गये हैं!'

"महाराज ने हँसी को और भी गहरा करते हुए उत्तर दिया, 'प्रेमी और कवि दोनों का आधार एक ही तो होता है।'

" 'क्या भला?'

" 'भावना।'

"मुझे उनकी 'भावना' को स्वीकार करना पड़ा और बात समाप्त हो गई, परन्तु उसके बाद फिर कई बार ऐसे अवसर आये। महाराज ने प्रत्येक बार इसी प्रकार भुलाने का प्रयत्न किया, परन्तु मेरे अन्तर में एक और ही जिज्ञासा जाग रही थी। एक दिन उसने मुझे पराजित कर दिया। उनकी बात स्वीकार न कर सकी। तब सोकर उठी थी और वह शैया पर बैठे हुए मुझे बड़े ध्यान से देख रहे थे। मुझे जागते देखकर वह उसी प्रकार स्तम्भित हो उठे जिस प्रकार उपवन में हुए थे। मेरे प्रश्न करने पर उन्होंने

सदा की भांति टालने का प्रयत्न किया, पर मैं उस रहस्य का उद्घाटन करने पर तुली हुई थी। मैंने दृढ़ स्वर में कहा, 'महाराज, आप मुझसे प्रेम नहीं करते।"

"महाराज चकित स्वर में बोले, 'यह तुम क्या कहती हो ?'

" 'मैं सच कहती हूं।"

" 'नहीं।'

" 'नहीं कैसे ? प्रेम में भेद होता है क्या ?'

" 'नहीं।"

" 'पर आपमें है। आप सदा मुझसे कुछ छिपाते हैं।'

" 'तारा...!'

" 'बोलिये ?'

" 'तारा...!'

" 'महाराज ! आपको दुःख पहुंचाने के लिए क्षमा चाहती हूं।'

" 'नहीं, नहीं, तारा तुम मुझे दुःख पहुंचाओगी! नहीं, असम्भव। सर्वथा असम्भव।'

" 'असम्भव नहीं, प्रियतम! वह सम्भव हो चुका है। मेरे कारण आपको अपार पीड़ा हो रही है और मैं अभागिन उसके कारण को जान भी नहीं पाती...।'

"और मैं रो पड़ी। मान से नहीं। मान करना मुझे आता है, पर तब मैं सचमुच दुःखी हो उठी थी। न जाने क्यों, न जाने कौन मुझे बुरी तरह कुरेद रहा था ? महाराज भी बहुत दुःखी थे। उनका सुन्दर मुख म्लान हो उठा था। वह कई क्षण सकपकाये-से देखते रहे, फिर बोले, 'तारा ! तुमने मुझे गलत समझा।'

"मैंने कहा, 'क्या कोई बात नहीं है !'

" 'बात तो है।'

" 'फिर ?'

" 'फिर यही कि मैं उसे बताना नहीं चाहता।'

" 'यही तो भेद है।'

" 'तारा...तारा ! तुम ठीक कहती हो। पर मैं कैसे समझाऊं? मैं तुम्हें कैसे बताऊं...?'

"फिर वह मौन हो गये। हिमालय के बोझ जैसे वे क्षण हमें पीसने लगे। एक मौन क्रन्दन उस वातावरण में गूंज उठा। जैसे उनका अन्तस्तल उस भार को नहीं सह सका। वह सहसा दृढ़ होकर बोले, 'अच्छा तारा ! मैं तुम्हें वह बात बताता हूं।'

"मैंने हर्षमिश्रित कौतूहल से उन्हें देखा। उनका रूपवान मुख नितान्त गम्भीर हो उठा था। भविष्य की काली रेखाएं रह-रहकर चमक उठती थीं, पर मैं तो रहस्य के पीछे पागल थी। मैंने एकदम कहा—बताइये !

"वह धीरे-धीरे बोले, 'तारा ! तुम्हें याद है, एक दिन उपवन में मैं तुम्हें प्रातःकालीन वेश में देखकर चौंक उठा था ?'

"मैंने कहा, 'जी हां, उसके बाद की कविता मुझे याद है।'

"उन्होंने मुस्कराने की चेष्टा की, 'काश कि यह बात कविता में डूब जाती; पर तारा, संसार कविता के सहारे नहीं चल सकता...।'

"मैंने मानो उन्हें टोका, 'ठीक है; पर भगवान के लिए आप फिर कविता शुरू न कीजिये। मुझे बताइये, आप उस दिन चौंके क्यों थे ?'

"वह बोले, 'क्योंकि तब मुझे लगा था, मानो मेरे सामने राजमाता खड़ी हैं।'

"मैं कांप उठी, 'क्या ! क्या मतलब ?'

" 'तारा ! मतलब स्पष्ट है।'

" 'पर मैं नहीं समझी।'

" 'तारा ! उस दिन मुझे तुम्हारा मुख राजमाता से इतना मिलता जान पड़ा था कि मैंने समझा मेरे सामने राजमाता खड़ी हैं !'

" 'सच ?'

" 'हां।'

" 'लेकिन यह बात तभी क्यों जान पड़ी, पहले क्यों नहीं ?'

" 'क्योंकि उस समय तुम्हारे रूप पर प्रसाधन का आवरण नहीं पड़ा हुआ था। इस समय भी यही बात है। मैं सच कहता हूं, अपने यौवनकाल में राजमाता ठीक ऐसी ही लगती होंगी जैसी तुम लग रही हो।'

" 'हो सकता है', मैंने कहा, 'पर इसमें चौकने की क्या बात थी? संसार में दो व्यक्तियों की सूरत मिल जाना असम्भव नहीं है।'

"वह बोले, 'ठीक कहती हो। पहले मैंने भी यही सोचा था, पर कौतूहल मनुष्य का स्वभाव है। मैंने इसी कौतूहलवश मां को तुम्हारा प्रातःकालीन चित्र दिखाकर पूछा, बताओ मां! यह कौन है? तारा, तुम सच मानना, मां एकदम बोली, 'अरे! यह तो मेरा चित्र है। कहां से उठा लाया...?'

" 'सच!'

" 'हां, तारा! दुर्भाग्यवश यह सच है। मैंने मां से कहा, 'नहीं मां! यह तुम्हारा चित्र नहीं है।' मां चकित-सी बोलीं, 'तो किसका है?' मैंने कहा, 'एक नर्तकी का।' सच मानना, यह सुनना था कि मां का चेहरा राख हो आया! वह कांपने लगीं। मैंने यह सब देखा तो मेरा कौतूहल एक शंका में परिवर्तित होने लगा।

"मैंने एकदम पूछा, 'शंका! शंका कैसी?'

" 'वही तो बता रहा हूं। सुने जाओ। इसके पश्चात मैंने तुम्हारे जीवन का पता लगाने का प्रयत्न किया।'

" 'क्या? क्या कहते हैं, आप?'

" 'ठीक कह रहा हूं पर तुम मुझे कह लेने दो। मैंने तुम्हारे जीवन का पता लगाने का प्रयत्न किया और मैं सफल हुआ।'

"मैं पागल-सी बोलनेवाली थी पर उन्होंने इंगित से रोक दिया। मैं पर्वत की गोदी में बेबस सरिता की तरह मौन दूसरी ओर झुक गई। वह कहते रहे, 'तारा मैंने पता लगा लिया! नृत्य-संगीत की तुम्हारी शिक्षिका मुन्नीबाई ने...।'

"मैं चिल्ला उठी, 'वह मेरी मां है।'

" 'नहीं।'

" 'क्या...?'

" 'वह तुम्हारी मां नहीं हैं। उन्होंने तुम्हें खरीदा था।'

"मैं उफनती नदी-सी मानो पत्थर से टकरा गई! मेरा अस्तित्व छिन्न-भिन्न हो चला। उन्होंने देखा तो जैसे चिल्ला उठे, 'तारा! तुम मूर्च्छित होने को हो! अपनेको सम्हालो।'

"जैसे मैं गिरते-गिरते बची। तबतक उन्होंने अपनी जेब से एक पत्र निकाला और मेरे कांपते हुए हाथों में थमा दिया। मैंने भी यत्रवत कांपते हुए हृदय से उसे पढ़ा। उसमें लिखा था, 'तारा मेरी बेटी नहीं है। मैंने उसे एक गरीब क्लर्क से खरीदा था, जिसके छः पुत्रियां और पांच पुत्र थे। परन्तु महाराज, भगवान के लिए आप यह रहस्य मेरे जीते-जी तारा को न बताइये...!'

"मैं आगे न पढ़ सकी। मुझे कुछ नहीं सूझ रहा था। मैं न देख रही थी न सुन रही थी, न सोच रही थी। मैं पर्वत प्रदेश की अंधियारी रात के समान न मौन थी, न मुखर, न प्रकाशमान थी, न अन्धकार से पूर्ण। मैं थी भी और नहीं भी। मैं नेत्र खोले-खोले खो गई थी। मेरा जीवन तारों की तरह अन्धकार में डूबता जा रहा था। न जाने इस अवस्था में मैं कितनी देर रही। होश आया तो मेरे कंधे पर हाथ रखे महाराज कह रहे थे,

" 'तारा! अभी से तुम्हारा यह हाल है?'

" 'अभी से!'

" 'हां! अभी तो बहुत-कुछ सुनना होगा?'

" 'सो तो समझ रही हूं।'

" 'क्या समझ रही हो?'

" 'कि मैं उस क्लर्क की भी पुत्री नहीं हूं।'

"अब महाराज के चौंकने की बारी थी। चकित स्वर में बोले, 'तारा! तुम जानती हो?'

" 'जानती तो नहीं थी पर अब जान गई हूं।'

" 'क्या जान गई हो?'

" 'यही कि आपकी कहानी के अन्त में मैं राजमाता की पुत्री प्रमाणित होऊंगी।'

"जैसे प्रकृति आलोड़ित हो उठी! घहरा-घहराकर पर्वत टूटे और निरन्तर निनाद करती गंगा में गिर पड़े! महाराज ने पूरी शक्ति से पलंग को पकड़ लिया। बाले, 'तो तुम समझ गई।'

"डूबते हुए प्रकाश के विजय-गर्व से मैंने कहा, 'आपकी बातों का दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता।'

" 'लेकिन क्या तुम पूरी कहानी जानती हो?'

" 'नहीं।'

"महाराज चुप हो गये। मैं तो थी ही नहीं। बाहर जितना मौन था अन्तर उतना ही मुखर! मुखर भी ऐसा कि कुछ सूझ नहीं पड़ रहा था। कई क्षण वहां सन्नाटा घहराता रहा। फिर महाराज बोले, 'सुनो तारा! मैं राजपुत्र नहीं हूं।'

"मैं चौंकने की सीमा पार कर चुकी थी। उसी तरह बोली,'हो सकता है।'

" 'हो सकता नहीं, है। तुम्हें जिस गरीब क्लर्क से मुन्नीबाई ने खरीदा था, उसीसे मुझे राजमाता ने खरीदा था। अन्तर इतना है कि राजमाता ने मेरे बदले में मेरे पिता को धन ही नहीं दिया था, एक कन्या भी दी थी; और वह कन्या तुम थीं।'

"मैं यंत्रवत हँस पड़ी थी और महाराज यंत्रवत बोलते रहे थे, 'राजमाता से मैं सारी कहानी सुन चुका हूं। जब वह सन्तान को जन्म देनेवाली थीं तब महाराज ने उनसे कहा था, इस बार पुत्र नहीं हुआ तो मेरे वंश को राजगद्दी से हाथ धोना पड़ेगा। वह पुत्र के लिए पागल थे। राजमाता की भी यही अवस्था थी, परन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतते थे लक्षण कन्या के आगमन की सूचना को पुष्ट करते जान पड़ते थे। वह बुरी तरह घबरा उठीं। उन्हें अपना भविष्य अन्धकारमय जान पड़ने लगा। ठीक इसी समय राजघराने की पुरानी दासी ने उनके कानों में एक मंत्र फूंका, कन्या को बदला जा सकता है।'

"राजमाता चकित-सी बोली, 'कैसे ?'

"दासी ने समझाया, 'किसी निर्धन के पुत्र से। केवल मन्त्री और अस्पताल के डाक्टर को विश्वास में लेना होगा।' राजमाता को स्वर्ग मिला और उसके बाद राजमहलों का वह लम्बा षड्यंत्र शुरू हुआ, जो बड़े-बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि को कुंठित कर सकता है। लाखों रुपये राजकोष से निकल गये। मन्त्री को मनचाहा वर मिला। लेडी डाक्टर के पति बड़ी तीव्रता से ऊपर चढ़े, लेकिन स्वयं वह सीमा लांघ जाने के कारण एक दिन आत्महत्या के शिकार हुए...।'

"मैं तब एक अज्ञात भय से कांपने लगी, परन्तु संज्ञा अभी लौटने से इन्कार कर रही थी। महाराज कहे जा रहे थे, 'ठीक समय महारानी ने एक परम सुन्दरी कन्या को जन्म दिया, पर वह उसे देख भी नहीं पाई थीं कि उसे वहां से हटा दिया गया और उसके स्थान पर एक कृशकाय बालक रख दिया गया। महारानी ने उसे देखा तो रो पड़ीं, पर राज्य में आनन्द फूट पड़ा। कुछ काल के बाद श्री और वैभव ने कृशकाय बालक को एक सुन्दर कुमार में परिवर्तित कर दिया और राजमहल उसके भविष्य के प्रकाश में जगमगाने लगा।'

"महाराज यहां आकर सहसा चुप होगये। मुझे जैसे झटका लगा। मैं एकदम बोली, 'फिर क्या हुआ ?'

" 'फिर जो कुछ हुआ वह तुम अच्छी तरह जानती हो।'

"मैंने सिर झुका लिया। कहानी प्रकाश की तरह स्पष्ट थी। बहुत देर तक मैं उसके सम्मोहन से विमोहित या कहूं उस विष से संज्ञाहीन शून्य में खोई-खोई रिक्त दृष्टि से ताकती रही। महाराज ने तब धीरे-धीरे शान्त पर दृढ़ स्वर में कहा, 'तुम्हारी पीड़ा की कल्पना मैं कई दिन से कर रहा हूं, तारा ! और मैंने उसका उपचार भी ढूंढ़ निकाला है ?'

"मैं सिहर उठी, 'मेरी पीड़ा क़ा उपचार ?'

" 'क्षमा करना, देवी...।'

"मैंने तीव्रता से कहा, 'देवी ! देवी कौन है ?'

" 'तुम।'

" 'मैं !'

" 'हां, देवी। तुम राजपुत्री हो। मैं तुमसे विवाह करूंगा।'

" 'मुझमें अब विस्मित होने की शक्ति नहीं रही थी और उसका कोई कारण भी नहीं था। मैं कई क्षण पागल-सी महाराज को देखती रही, फिर सहसा बोल उठी, 'महाराज ! मेरी एक बात सुनेंगे ?'

" 'कहो।'

" 'मैं राजमाता से मिलना चाहती हूं।'

" 'महाराज सिहर उठे। वह कम्पित स्वर में बोले, "नहीं, नहीं तारा ! तुम उनसे मत मिलो।'

" 'एक बार।'

" 'नहीं, नहीं तारा !'

" 'केवल एक बार, केवल एक बात पूछना है।...बोलो ?'

" 'मिल सकती हो।"

"महाराज ने जिस बात की आज्ञा दी, राजमाता ने उसीके लिए इन्कार कर दिया। पर मैं रुकी नहीं, बढ़ी चली गई। दासियां मुझे रोक सकें इतना साहस उनमें नहीं था। साहस करके एक ने मुझसे यही कहा, 'राजमाता बीमार हैं।'

"मैंने कहा, 'तब तो मुझे अवश्य उनके दर्शन करने चाहिए।'

"और मैं उस विक्षुब्ध वातावरण में उनके पास पहुंच गई। राजमाता सचमुच बीमार थीं। उनकी आंखों में मौत का भय साकार हो उठा था। उनके मुख पर अन्धकार की काली छाया गहरी होती आ रही थी। तभी मेरी दृष्टि उनकी दृष्टि से मिली। मैं जैसे शून्य में जा पहुंची, मेरे सामने मेरा ही कंकाल था, पर मैं अपनेको सम्हालूं कि राजमाता चीत्कार कर उठीं, 'तुम...तुम चली जाओ...चली जाओ...जाओ !'

"मैंने अपनी दृष्टि उनपर गड़ा रखी थी। मैं अलंघनीय पर्वत के पथिक की भांति केवल उनके मुख को देख रही थी, मैं जैसे मां को ढूंढ़ना चाह रही

थी, पर वह तो अंधे की दृष्टि की तरह कहीं मिल ही नहीं रही थी। आखिर मैंने वाणी का सहारा लिया। मैं पुकार उठी, 'मां!'

"राजमाता उसी तरह चिल्लाई, 'दूर हटो! दूर हटो। तुम यहां क्यों आईं? तुम कौन हो?'

"मैंने कहा, 'मैं तुम्हारी बेटी हूं।'

" 'बेटी! नहीं, नहीं, मेरी कोई बेटी नहीं। तुम कोई छलिया हो! ठगनी हो! अरे कोई इसे निकालो! यह राक्षसी मुझे मारने आई है!'

"उनकी सेविकाएं और सैनिक इन्द्र और विश्वामित्र के बीच त्रिशुंक की तरह लटक रहे थे। और मैं आगे बढ़ रही थी। मैं शैया के पास पहुंच गई। उनके चरणों को मैंने देखा। मेरे हाथ आगे बढ़े पर मेरी दृष्टि तो उनके मुख पर पहुंची थी। मैं कांप उठी। मैंने ममताभरे स्वर में कहा, 'मां!'

"राजमाता बोलीं नहीं, स्वप्न में डरे हुए के समान उनकी घिग्घी बंध गई। उन्होंने चीख मारी और संज्ञाहीन होगईं। मैंने न कुछ देखा, न कुछ सुना। पुकारती रही, 'मां कहो, एक बार कहो—मेरी बेटी!' उधर दासियां रोने लगी थीं और सैनिक मुझे घेरते आ रहे थे। एक कोहराम मचा हुआ था पर तब मैं दोनों हाथों में राजमाता का मुंह लिये पागल-सी पुकार रही थी, 'मां! तुमने मुझे जन्म दिया था। तुम मेरी जननी हो। तुम भारत की प्रसिद्ध नर्तकी की जननी हो, मां! तुम राजमाता हो और तुम्हारी पुत्री रूप की मानिनी और स्वर की जादूगरनी है। कुछ लोग उसे वेश्या भी कहते हैं। वेश्या! हां, वे राजपुत्री को वेश्या कहते हैं।'

"न जाने क्या हुआ, मैं सहसा अट्टहास कर उठी और फिर मुझे पता नहीं क्या हुआ। सुना, मैं चीत्कार करती हुई सागर की अथाह लहरों में खो गई। और राजमाता भी फिर नहीं जागीं। जिस समय सैनिकों ने मुझे पकड़ा, मेरे हाथ उनके गले पर थे।"

यहां आकर रूप की रानी मौन होगई, मानो एक स्वप्न भंग हो गया। समस्त जन-समुदाय ने एक दृष्टि से रूपसी के नयनों में झांका। कोई अन्तर नहीं, वही सौम्यता, वही स्निग्धता। न्यायालय उसके सुगन्धित प्रकाश से

पूर्वतः महक रहा था। सबके मस्तक श्रद्धा से झुक गये और उनका मौन सहस्र जिह्वाओं से उसकी निर्दोषता प्रमाणित करने लगा। तब कर्तव्य के गुरु-गम्भीर पद से मुख्य न्यायाधीश ने आकाश-वाणी की भांति कहा, "न्यायालय कल के लिए स्थगित किया जाता है। अभी देवगढ़ के महाराज अभियुक्त की ओर से साक्षी देंगे।"

सुनकर जनता का मन-कमल खिल उठा और रूपसी तारा ने एक गहन उच्छ्वास के साथ नयन मूंद लिये।

●

कलाकार की खोज

पहला पत्र

महोदय,

यह पत्र पाकर आपको आश्चर्य होगा। क्षमा चाहती हूं, लिखे बिना न रह सकी। ज्येष्ठ की 'देवभूमि' में आपकी कहानी मैंने पढ़ी। नहीं जानती मनोलोक का इतना सूक्ष्म अध्ययन कैसे सम्भव हो सका है। उस असम्भव को सम्भव बना देनेवाले कलाकार को मेरा विनम्र प्रणाम्...।

दूसरा पत्र

प्रिय महोदय,

पहला पत्र लौट आया। पोस्ट आफिस ने उसपर दो अक्षर लिखे हैं 'लैफ्ट'। इन दो अक्षरों ने मेरी आकुलता को कितना बढ़ा दिया वे क्या जानें। 'देवभूमि' में आपकी दूसरी कहानी पढ़ी। 'मनोज' में एक लेख भी देखा। नहीं जानती आपकी लेखनी में इतना आकर्षण क्यों है। निर्मूल्य होकर भी बधाई भेजने को जी चाहता है।

साहित्य में इतनी सूक्ष्मता आजकल दिखाई नहीं देती। लेकिन आप तो उससे भी अधिक सूक्ष्म जान पड़ते हैं। सम्पादक से पूछने पर पता लगा कि वह आपको नहीं जानते। जानना चाहते हैं।...

तीसरा पत्र

अमर शिल्पी,

अचरज कि एक भी पत्र आप तक नहीं पहुंच पाता। इस वीभत्स दुनिया के चलते-फिरते प्राणी तुम्हारे हाथों में पड़कर कला की अमर कृति बन जाते हैं। सत्य की ठोस भित्ति पर अपनी कला का आधार रखकर संसार को तुम

उस लोक का दर्शन कराते हो जिसका पता खोजने पर भी नहीं मिल सकेगा। क्या इसीलिए तुम स्वयं भी खोज से परे हो गये हो।

कहो तो कीचड़ के भीतर कमल का सृजन कैसे होता है...

चौथा पत्र

देव,

तुम कवि भी हो। शायद दो अक्षर का यह शब्द भी तुम्हारा परिचय नहीं दे सकता। तुम स्रष्टा हो। स्रष्टा की भांति निराकार-निर्विकार और सर्वव्यापक। नहीं तो मानव भी इतना गहरा पैठ सकता है क्या ?

लेकिन निर्दयी, मैं तुम्हें खोज लेने का प्रण कर बैठी हूं। जानती हूं, निराकार को साकार करना असम्भव है। लेकिन सम्भव करने का पाठ मैंने तुम्हारी कला में पाया है।

मैंने तुमको ईश्वर के समकक्ष बैठा दिया। लेकिन तुम हो कि ईश्वर को मानते ही नहीं। तुमने लिखा है, 'मनुष्य से घृणा करके मानव ने ईश्वर को पाया है। मैं उस ईश्वर को नहीं मानता।' लेकिन कलाकार तुम्हारे मानव-प्रेम के कारण मुझे तुममें ईश्वर की भ्रान्ति हो चली है...

पांचवां पत्र

......

सीमा से परे होकर कुछ भी क्यों न हो अपना रूप खो बैठता है। तुम्हारी खोज में सारा देश व्याकुल है। सम्भवतः तुम कोई प्रेतात्मा हो, तभी तो आत्म-विज्ञापन से परे हो। और तभी तुम्हारे विज्ञापन की धूम है।

प्यारे शिल्पी, तुम केवल सुन्दर की झांकी ही नहीं दिखाते उसका निर्माण भी करते हो। ऐसे सुन्दर का निर्माण, जो मनुष्य की कल्पना-साधना से परे है।

मैं तुम्हारा मूल्यांकन करने लगी। लेकिन जो बहते पानी को नापे वह पागल ही है। क्या करूं बेबस हूं।

लेकिन इतनी तीव्र दृष्टि, इतना सूक्ष्म अध्ययन, इतनी उदारता, यह सब पाकर भी तुम कैसे भूल जाते हो कि जितना रहस्यमय बनोगे, संसार

उतना ही तुम्हारे पीछे भागेगा। पगले कलाकार, कहीं ऐसा न हो कि तुम रहस्य के गर्भ में ही पड़े रह जाम्रो। तुम कहोगे, मैं यही चाहता हूं लेकिन मैं कहूंगी, मैं तुम्हें ढूंढूंगी, अवश्य ढूंढूंगी...

... ...

ये पत्र पढ़ती-पढ़ती शान्ति अपनेको भूल गई। बोल उठी, "हां, मैं उसे खोज निकालूंगी। निश्चय ही खोज निकालूंगी।" फिर सहसा जैसे अपनी आवाज से चौंक पड़ी। कांप-कांप आई। सोचने लगी, मैं उसे उसे खोजूं, उसका मेरा सम्बन्ध क्या है? पागलपन...

और शान्ति हँस पड़ी। उसी समय बाहर से छोटी बहन ने कहा, "जीजी 'देवभूमि' के सम्पादक आये हैं।"

शान्ति बड़े वेग से सिहर उठी। जैसे किसीने चोरी करते देख लिया हो। पत्रों को शीघ्रता से अपने बक्स में बन्द किया और ज़ोर-से कहा, "उन्हें अन्दर बुला लो, कुशी।"

और वह स्वयं भी बाहर आ गई। पाया कि एक खद्दरधारी नवयुवक उसे प्रणाम कर रहा है।

शान्ति मुस्कराकर बोली, "आपने बड़ा कष्ट किया। आइये, आइये।"

और वह अन्दर आकर बैठ गये।

सम्पादक बोले, "आपके कई पत्र मिले। उत्तर न दे पाया सो क्षमा मांगने आया हूं। आप धूमिल की इतनी प्रशंसक हैं लेकिन मैं उनकी खोज न कर सका। एक पते पर गया था लेकिन लेखक धूमिल को वहां कोई नहीं जानता। मकान-मालिक से पूछने पर केवल इतना ही जान सका कि उस मकान में बद्री नामधारी एक क्लर्क रहता था। वहां की जलवायु उसे माफिक नहीं आई सो इस्तीफा देकर अपने देश चला गया।

शान्ति ने एकाएक कुछ कहना चाहा लेकिन सम्पादक महोदय ने इंगित से उसे रोकते हुए कहा, "परन्तु मकान-मालिक ने एक अद्भुत बात बताई है कि वह क्लर्क बातें बहुत कम करता था। बस लिखता ही रहता था।"

शान्ति बोल उठी, "आप समझते हैं कि वह क्लर्क ही कलाकार धूमिल

है ।"

"नहीं, नहीं । बेचारा क्लर्क कैसे इतना बड़ा कलाकार बन सकेगा ।"

शान्ति के मन में शंका का जो ग्रंकुर पैदा हुग्रा था, वह लहलहा उठा। लेकिन वह निश्चय नहीं कर पाई कि सम्पादक फिर बोल उठे, "इस बार जो पत्र ग्राया है उसपर एक नया पता लिखा है। वहीं जा रहा हूं।"

शान्ति फिर एकबारगी बोली, "ग्रभी जा रहे हैं ?"

--जी हां।

--यदि मैं जाऊं तो।

सम्पादक ग्रचकचाये, "ग्राप जायंगी। नहीं, नहीं।"

शान्ति बोली, "पता मुझे दीजिये। मैं उन्हें खोज निकालूंगी।"

सम्पादक ने शान्ति की ग्रोर देखा। शान्ति के नयन झुक गये। सम्पादक बोले, "कोई बात नहीं। पता लिख लीजिये।"

... ...

शान्ति जिस मकान के सामने जा पहुंची वह निहायत गन्दा था। ग्रास-पास जैसे गन्दगी बिखरी हो। इधर-उधर देखा कि किसीसे मालूम कर लूं कि यहां कौन रहता है। उस समय वह बहुत उद्विग्न-उत्तेजित हो रही थी। कहां-कहां की ठोकर खाकर यहांतक पहुंची। कैसे-कैसे मोहल्ले, कैसी-कैसी बस्तियां उसने नहीं देखीं। कैसा है यह कलाकार। कहां मिलेगा उसका छोर। एकाएक घृणा से भर उठती ग्रौर सोचती ग्रब वह घर लौट जायगी। लेकिन तभी कहीं कीचड़ में शंका का कमल लहलहा उठता ग्रौर बेबस-विह्वल वह ग्रागे बढ़ जाती। एक दिन एक मोहल्ले में जाकर उसने पूछा, "धूमिल का घर कौन-सा है ?"

कई व्यक्तियों ने एक साथ उसकी ग्रोर देखा। सिल्क की साड़ी पहने एक युवती पूछ रही है, धूमिल का घर कौन-सा है ? कई क्षण देखते रहे, फिर एक युवक ने पूछा, "ग्राप कौन हैं ?"

"मैं धूमिल के गांव से ग्राई हूं।"

जैसे वह युवक जागा हो, "ग्राप धूमिल के बारे में पूछती हैं। हमें कुछ

पता नहीं है। हम तो अपने गोविन्द भैया को जानते हैं।"

शान्ति ने अचकचाकर पूछा, "गोविन्द कौन ?"

एकसाथ सब बोल उठे, "आप गोविन्द को नहीं जानतीं ?"

एक ने कहा, "उसने कहा था, शराब पीना पाप है। हम शराब नहीं पीते।"

दूसरा बोला, "उसने कहा था, गन्दगी और पाप एक ही बात है। हम अब रोज नहाते और कपड़े धोते हैं।"

तीसरे ने कहा, "उसने कहा था, पढ़ना पुण्य है। हम अपने लड़कों को शाला में भेजते हैं।"

एक के बाद एक ऐसी ही अनेक बातें कहकर उन्होंने शान्ति को पागल कर दिया। उस युवक ने फिर कहा, "गोविन्द भैया पण्डित थे। दीवे की ज्योति में मैंने उन्हें सदा लिखते ही देखा।"

शान्ति सिहर उठी। बद्री, गोविन्द और धूमिल सभी लेखक हैं। पूछा, "तुम्हारे गोविन्द भैया कहां हैं ?"

अनमना-सा वह युवक बोला, "कहां हैं, यही तो हम जानना चाहते हैं। महीना बीत गया पर वह नहीं लौटा।"

शान्ति को लगा जैसे वह युवक रो पड़ेगा। यह गोविन्द भी इस रहस्यमयी दुनिया में एक और भूलभुलैया बनाकर गायब होगया। निश्चय ही ये सब एक हैं। लेकिन कहां हैं। कहां उनको पाऊं, कैसे उनको खोजूं ?...

विकल-व्याकुल राह टटोल रही थी कि पाया सोलह-सत्रह वर्ष की एक कृष्ण वर्णा लड़की उसे बुला रही है। पास जाकर देखा आंखों में गहरा आकर्षण है। बोली, "तुमने मुझे बुलाया ?"

लड़की ने कहा, "मैं जानती हूं, गोविन्द कहां है। रास्ता दिखा सकती हूं।"

शान्ति का मन जैसे खिल उठा। बिना बोले यंत्रवत पीछे-पीछे चलने लगी। कुछ दूर जाने पर पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है ?"

——गुमटी।

"अच्छा तुम उसे कैसे जानती हो ?"

गुमटी एक क्षण झिझकी फिर बोली, "जाते समय वह मुझसे कह जो गया था। कभी-कभी मिलने जाती हूं, लेकिन खबरदार उससे मत कहना कि मैंने पता दिया है।"

शान्ति हँस पड़ी, "लेकिन तुमने बताया क्यों ?"

"क्योंकि उसकी और तुम्हारी शक्ल मिलती है। तुम्हें देखा तो समझी वही लड़की बनकर आया है।"

शान्ति जैसे सिहर-सिहर उठी। गुमटी कहती रही, "इतने सुन्दर, इतने भले, पर न जाने हम गन्दे लोगों में आकर क्यों रहते हैं। कहते थे, 'अब मैं जल्दी ही गांव लौट जाऊंगा।'

शान्ति ने महसूस किया, जैसे लड़की का स्वर बेहद भीग आया हो। बोली, "उसके जाने से तुम्हें दुःख होता है ?"

लड़की ने गर्दन के इशारे से बताया--होता है।

अब कुछ रहस्य न रहा। शान्ति जान गई। लड़की अपने गोविन्द को प्यार करती है। तबतक वह एक निहायत गन्दी गली के सामने आ पहुंचे थे। लड़की ने हाथ के इशारे से दिखाकर कहा, "वह तीसरा मकान उसीका है। मैं वहां न जाऊंगी।"

और गुमटी अदृश्य हो गई।

शान्ति उसी मकान के सामने खड़े होकर सोच रही है कि किससे पूछूं ? कि कई आदमी उधर आ निकले। उसे देखकर अचरज से पूछा, "किसे खोजती हो।"

शान्ति बोली, "इस मकानवाले को।"

एक आदमी ने कहा, "इसमें चारण भैया रहते हैं।"

शान्ति एकाएक बोल उठी, "हां, हां, मुझे उन्हींसे मिलना है।"

कई क्षण उस गन्दगी में आगे बढ़ने के बाद एक व्यक्ति ने इशारे से बताया, "वह देखो, वह लेटे हैं, हमारे चारण भैया।"

उस दिशा में देखने पर पाया। नीम के बड़े-से पेड़ के नीचे एक व्यक्ति

चटाई पर लेटा है। कद लम्बा, शरीर सुदृढ़, रंग गेहुंग्रा, लेकिन चेहरे पर जैसे बालों की घनी खेती सबकुछ छिपा रही हो। कुछ ग्रच्छा नहीं लगा। बहुत ग्रावाज देने पर उसने ग्रलस भाव से ग्रांखें खोलीं। मानो दो ग्रग्नि-पुंज भभक उठे हों। एक क्षण देखकर वह फिर चित हो गया। साथ के ग्रादमी ने कहा, " मालूम होता है, ग्राज यह भी चढ़ा गया है।

पीछे से एक लड़का बोल उठा, "हां बापू, ग्राज कन्हाई ने इनको भी पिला दी।"

बापू ने पूछा, "क्या कहता है ? मना नहीं किया।

"नहीं बापू।"

सभीने गर्दन हिला-हिलाकर एक दूसरे की ग्रोर देखा ग्रौर फिर शान्ति से कहा, "ग्रब यह नहीं उठेगा।"

लज्जा, ग्लानि ग्रौर घृणा ने जैसे शान्ति को मथ डाला था। बोल उठी, "ठीक है। मैं जाती हूं।"

... ...

होटल में लौटकर शान्ति ने निश्चय किया वह ग्राज रात की गाड़ी से लौट जायगी। लेकिन जिस समय वह जाने की तैयारी कर रही थी उसके मन के किसी कोने में एक प्रश्न जाग ग्राया—सोचकर देखो, कुएं के पास ग्राकर प्यासी तो नहीं लौट रही हो।

उसने जैसे ग्रपनेको धिक्कारते हुए कहा हो—छिः, छिः क्या सोच रही हो। धूमिल ग्रौर यह स्थान।

लेकिन सहसा जैसे दूर प्रकाश चमका हो। जैसे धूमिल की कहानियों ग्रौर कहानियों के पात्र मन की दुनिया में भटक ग्राये हों। यही तो पृष्ठ-भूमि है उसकी कहानियों की। कितनी वीभत्स पर कितनी करुणामय। कितना गहन ग्रन्धकार पर कितना मोहक ग्राकर्षण।

ग्रौर उसने फिर निश्चय किया कि एक बार चारण से मिलकर ही जाऊंगी। इसीलिए दूसरे दिन जब चारण के पड़ोसियों ने उसको चारण के मकान के सामने देखा तो उन्हें कोई ग्राश्चर्य नहीं हुग्रा।

एक ने धीरे-से कहा, "हां, इस समय वह अन्दर है। दीवे की ज्योति में कुछ लिख रहा है। हमेशा लिखता रहता है।"

और मुस्कराकर चला गया।

शान्ति ने पाया किवाड़ की दराजों से आनेवाला प्रकाश अन्धकार की छाती को आकर्षक बना रहा है। और चारों ओर एक गहन निस्तब्धता उसको वाणी दे रही है। उसने पास जाकर धीरे-से कहा, "किवाड़ खोलो।"

कोई उत्तर नहीं। शान्ति फिर बोली, "किवाड़ खोल दो, चारण। या गोविन्द या बद्री जो भी तुम हो।"

जैसे कोई हँसा। एकाएक किवाड़ खुल गये। सुना कोई पूछ रहा है, "कौन हो?"

शान्ति ने कहा, "मैं अन्दर आ सकती हूं?"

व्यक्ति ने मार्ग छोड़ दिया। शान्ति अन्दर आ गई। देखा—कमरा निपट खाली-खाली, केवल एक चटाई, मिट्टी के दो-चार बर्तन और लिखने का सामान। उस व्यक्ति ने कहा, "बैठिये-बैठिये।"

शान्ति वहीं चटाई पर बैठ गई। छाती उसकी धक-धक कर रही थी। आंखें उसकी बार-बार उस व्यक्ति पर जा अटकती थीं और फिर एकाएक वह दृष्टि घुमा लेती थी। बोली, "आपको अचरज होता होगा।"

वह व्यक्ति हँस पड़ा, "नहीं, जानता हूं कि बहुत देर से मेरा पीछा कर रही हो।...आप धूमिल को खोज रही हैं न?"

शान्ति एकाएक विवर्ण हो आई। एक क्षण के लिए उस व्यक्ति के चेहरे पर आंखें जैसे ठिठक गई हों। जैसे वहीं से उसे बल मिला हो। "हां। खोज रही हूं।"

"तो सुनो। मैं ही धूमिल हूं।"

एकाएक दोनों मौन हो गये। दोनों एक दूसरे को जानते थे। यह ज्ञान ही जैसे उनके मार्ग की बाधा बन गया। शान्ति से सफलता का बोझ जैसे सहा न गया हो। अपने धूमिल को देखती ही रही कि धूमिल शान्त मन कलम हाथ में लिये लिखने की जैसे व्यर्थ चेष्टा कर रहा है कि शान्ति एकदम

उठ खड़ी हुई। बोली, "तो मैं जाती हूं और सबसे कहे देती हूं कि मैंने धूमिल को खोज लिया है।"

धूमिल ने धीरे-से कहा, "अभी बैठो।"

शान्ति बैठ गई। एक क्षण उसकी ओर देखकर धूमिल बोला, "मैं आपकी राह देख रहा था। आप न आतीं तो मुझे अचरज होता। और मैं यह भी जानता हूं कि बहुत-से लोग मेरा परिचय चाहते हैं।"

शान्ति मृदु मधुर कण्ठ में बोली, "देश आपके लिए पागल है। आप अमर शिल्पी हैं।"

"हो सकता है। लेकिन देवी, मैं अन्धकार में रहने का आदी हो गया हूं। प्रकाश की पहली किरण मेरी दृष्टि को हर लेगी। इसलिए आपसे कहूंगा..."

शान्ति ने कुछ कहना चाहा, लेकिन कह न सकी। धूमिल ने ही कहा, "मैं प्रार्थना करूंगा कि आप किसीसे न कहें कि आपने धूमिल को खोज लिया है।"

शान्ति फिर सिहर-सिहर उठी। उस क्षण में जैसे उसके मन और मस्तिष्क दोनों में सागर-मन्थन की प्रलयंकरी लहरें उसे मथने लगीं। वह न कुछ समझ सकी, न देख सकी, उसकी खोज का यह अन्त, उसकी कामना का यह परिणाम, कि धूमिल ने फिर कहा, "वचन दीजिये कि आप इतना करेंगी। मैं चाहता तो आप मुझे ढूंढ न पातीं। लेकिन गुमटी की बात..."

शान्ति को जैसे राह मिली हो। बोल उठी, "गुमटी आपको प्यार करती है।"

"जानता हूं। तभी तो आज ही यहां से चला जा रहा हूं।"

शान्ति हतभागिनी-सी उसे देखती ही रह गई। धूमिल ने मुस्कराकर कहा, "मैं भी किसीको प्यार करता हूं। उसको पाने के लिए मेरा जाना आवश्यक है। अपना हृदय दुनिया को देकर मैं कला को क्या दूंगा। मैं जानता हूं, आज की दुनिया की यह राह नहीं है लेकिन अपनी राह चलने का अधिकार तो मुझे है।

स्तब्ध-सी शान्ति उसकी बात सुनती रही। वह यह मान नहीं सकी

कि जो कलाकार इस अन्धेरी और गन्दी दुनिया में बैठकर अपने हृदय के रक्त से शून्य के पट पर अमर चित्र अंकित करता है उसे छिपे रहने का अधिकार है। लेकिन न जाने क्यों वह आग्रह न कर सकी। न कर सकी, उसकी आंखें भर आईं। उसका हृदय उमड़ा। लेकिन शब्दों ने उसका साथ नहीं दिया। एकाएक वह उठ खड़ी हुई और विद्युत की गति से उसने धूमिल के चरणों को छुआ और फिर उस अन्धकार में अदृश्य हो गई! ...

... ...

घर पहुंचकर शान्ति ने 'देवभूमि' के सम्पादक को लिखा, मुझे खेद है, मैं धूमिल को नहीं खोज पाई। न जाने कला ने अन्धकार के किस आवरण में उसे छिपा रखा है।

यह हार—यह जीत

कार तीव्र गति से बढ़ी जा रही थी; दूर तक, जहांतक दृष्टि जाती थी, समतल, तारकोल से लिपी-पुती, लम्बी सड़क पड़ी थी; शान्त, निश्चल और मौन। उसके दोनों ओर पेड़ों की कतारें मानो किसी अमूल्य धन की रक्षा कर रही हों और उनके बीच में कार चली जा रही थी। सड़क पर हर वक्त इसी तरह कार, लारियां, ट्रक और गाड़ियां चलती रहती हैं पर आज जो कार जा रही थी उसमें कुछ विशेषता थी। देखनेवालों ने देखा कि उसके आगे पुलिस की जीप थी, उसके पीछे की जीप में भी अधिकारी लोग थे। कहनेवालों ने कहा, "वजीरसाहब जा रहे हैं।"

वजीरसाहब सरकारी कार में सरकारी लोगों के बीच में बैठे हुए जा रहे थे, मौन पर अनमने, जैसे रह-रहकर उन्हें कुछ याद आ रहा हो, जैसे दिल के आइने पर रह-रहकर कुछ तस्वीरें उभरती आ रही हों। कभी, जब यह सड़क आज की तरह पक्की नहीं थी, वह इसपर पांव-पैदल घूमा करते थे, जलूस निकालते थे, नारे लगाते थे, वे नारे जो हजारों कण्ठों से होकर आकाश को गुंजा देते थे, वे नारे जिन्होंने गुलामी की दीवारों में दरारें पैदा करके एक दिन उन्हें गिरा दिया था और फिर उस पार आजादी के लोकराज्य में वह उन्हीं नारों की शक्ति पर वजीर बने थे। वजीर, जो फाइलों और योजनाओं में खोये रहते हैं, जो स्वागत-समारोहों और उद्-घाटन उत्सवों के नायक हैं...

उन्होंने एक लम्बी सांस खींची—कैसी जिन्दगी है यह! कितनी बड़ी जिम्मेदारी है, पर साथ ही वह अपने साथियों से कितने दूर पड़ गये हैं, वे साथी जो एक साथ कदम मिलाकर आगे बढ़ते थे, एक साथ जिनके कण्ठ-

स्वर फूटते थे, एक साथ जो यातनाओं के ज्वालामुखी को पार करते थे... यह दूरी कैसे हुई, फिर कैसे बढ़ती चली गई, जैसे वह कुछ नहीं थे, जो कुछ था यन्त्र था और उसी यन्त्र से खिंचे वह चले जाते थे, क्योंकि उन्हें शासन करना था और जनता को शासित होना था...

उनके मन में एक प्रश्न उठा करता था कि क्या विना फाइलों और सेक्रेटरियों के शासन नहीं चल सकता ? क्या ये दीवारें, जो गुलामी की दीवारों से कम दुखदायी नहीं थीं, नहीं तोड़ी जा सकतीं ? लेकिन वह सदा एक आह खींचकर रह जाते थे। उत्तर के स्थान पर एक धुन्ध-सी उनकी आंखों में उठती और वह फुसफुसा उठते, "अभी नहीं, अभी देर है। अभी जनता जिम्मेदारी नहीं समझती..।"

और फिर वह धुंध भी मिट गई। प्रश्न भी मिट गया। वजीर शासक बन गये। यन्त्र जीत गया, भावना हार गई। भावना मानवता का आधार हो सकती है, पर शासक की वह सबसे बड़ी दुर्बलता है। इसलिए वजीर-साहब को उससे छुटकारा पाना पड़ा। पर आज जब वह इस सड़क से जा रहे हैं तो उन्हें फिर भावना का समुद्र लहराता दिखाई दे रहा है। रह-रहकर कुछ मूर्तियां उनकी आंखों के आगे उभर आती हैं। कैल के पेड़ की तरह ऊंची एक मूर्ति जो सबसे ऊपर उठती दिखाई देती है वह है नारायण की। नारायण जो तुतलाते बचपन से उनका साथी रहा है, जिसके साथ उन्होंने बागों से आम चुराकर खाये, जिसके साथ कच्ची सड़क पर गुल्ली-डंडा खेला, चांदनी रातों में कवड्डी का शोर मचाया, फिर जिसके साथ परीक्षाएं दीं, जलूस निकाले, नारे लगाये, और फिर आजादी की देवी के उन्होंने साथ-साथ दर्शन किये।...

वजीरसाहब सोच रहे थे कि नारायण कद में ऊंचा, कर्मक्षेत्र में भी ऊंचा रहा, पीछे रहकर भी अग्रणी रहा। बयालीस की विभीषिका में वह आतंक बनकर छाया रहा। जहां देखो वहां नारायण, जिधर सुनो उधर नारायण। नारायण जो कैल जैसा ऊंचा था, जो चिनार जैसा शानदार था, जो बरगद की तरह हजारों भुजाओंवाला था, वही नारायण एक दिन उनसे

बिछुड़ गया। नहीं मालूम कैसे वह आगे बढ़े, शहर पहुंचे, कैसे वह वजीर बन गये और कैसे नारायण, जो सबसे ऊंचा था पीछे गांव में ही रह गया। गणित में वह हमेशा कमजोर रहा और वही गणित उसे ले डूबा। वह जोड़-तोड़ नहीं कर सका...

"नहीं, नहीं, नहीं", उन्होंने तीव्रता से कहा, "इस बार उसे खींच लाना होगा। वह अपनी शक्ति को नहीं पहचानता। पहचानना ही नहीं चाहता। जैसे उसकी अपनी शक्ति औरों को और आगे बढ़ाने के लिए ही हो..."

कि सहसा उनके कानों में कुछ स्वर गूंजे, कुछ परिचित-से स्वर जो दूर से सरिता की तरंगों की तरह हिलोरें उठाते चले आते थे। पर आज उस जय-जयकार में जैसे पहले का-सा उल्लास नहीं था। कण्ठ-स्वर में प्रखरता तो थी पर उसे स्निग्ध करनेवाला स्नेह जैसे तिरोहित हो गया था। वह मानव-हृदय की धड़कन नहीं थी, यन्त्र की धड़कन थी। वजीर-साहब को कुछ अच्छा नहीं लगा। वैसे वह मुस्कराये, हाथ जोड़े, पर बस यन्त्रवत्, प्राणहीन गति की भांति। सहसा उन्होंने कहा, "नारायण के घर चलो।"

"अभी?"

"हां, पहले वहीं।"

नारायण का घर, घर का मार्ग, घर के प्राणी सभी तो वजीरसाहब के जाने-पहचाने थे। पर जैसे आज वह दूर, बहुत दूर से, धुंध में से उभरते थे, पास आते थे पर फिर जैसे पीछे रह जाते थे। कार जब रुकी तो वह जागे। दरवाजा खुला, इधर कार का, उधर घर का। कार से वजीरसाहब उतरे, घर से एक नारी निकली। दोनों ने एक दूसरे को देखा। चौंके, मुस्कराये। नारी सवेरे की धूप जैसी खिलखिला उठी, "अरे लाला, तुम हो क्या?"

"भाभी, नमस्ते।'

"नमस्ते। सुना था तुम आनेवाले हो।"

"आ गया हूं।"

"पर यहां क्यों आ गये? तुम्हें तो..."

बात काटकर वजीरसाहब ने कहा, "भाभी, नारायण कहां है ?"

"वहीं, जहां तुम्हें जाना था।"

वह बातें कर रहे थे और घर में अन्दर बढ़ रहे थे। दहलीज पार कर वजीर आंगन में आये। इस आंगन के साथ न जाने कितनी स्मृतियां विजड़ित थीं। वह कुछ विस्मृति का-सा अनुभव करने लगे, जैसे खोये जा रहे हों और भाभी चकित-विस्मित कभी हँसना चाहती, कभी जड़वत् देखने लगती...

"भाभी, प्यास लगी है।"

"हां, हां, पानी लाती हूं। नीबू का शरबत पियोगे ?"

"जो पिलाओ।"

भाभी अन्दर चली गई। वजीरसाहब वहीं खाट पर बैठ गये। देखा—वही कच्चा आंगन, वही मिट्टी की दीवारें, वही संक्षिप्त-सा सामान, वही सबकुछ। नहीं-नहीं, सबकुछ वही कहां है ? वह उल्लास कहां है ? वह झरने की-सी हँसी कहां है ? वह अपनापन कहां है ?...

वह तड़पकर उठे और अन्दर चले गये। भाभी जल्दी-जल्दी कांपती-सी नीबू निचोड़ रही थी। देखा तो ठिठक गई। उन्होंने पूछा, "भाभी, बच्चे कहां हैं ?"

"वहीं गये हैं।"

वह बैठ गये, "लाओ दो, मैं मिला लूंगा।"

"नहीं, नहीं..." उसने कहा, जैसे पहाड़ गिर रहा हो और वह साफ बच निकली हो।

"नहीं, नहीं..." वजीर ने आगे बढ़कर गिलास ले लिया। शिकंजवी को मिलाया, फिर पी गये। भाभी देखती रही, देखती रही। फिर सहसा बोली, "लाला, तुम वजीर बन गये, पर आदत नहीं बदली।"

"सच।"...वह उल्लसित-से जैसे नाच उठे।

"और नहीं तो...कोई बात है, वजीर होकर...।"

"अच्छा, अच्छा, दोपहर को खाना खाऊंगा।"

"यहां ?"

"क्यों ? नहीं खिलाओगी ?"

"नहीं, नहीं, पूछती थी। वजीर हो..."

"अच्छा, अच्छा उठो।"

"क्यों ?"

"मेरे साथ चलना जो है।"

"मुझे ?"

"हां।"

"नहीं, नहीं..."

"उठो भाभी, मुझे देर हो रही है। मैं वजीर हूं..."

और वह हँस पड़े।

और भाभी ने एक बार फिर वजीर को देखा। सोच न सकी कि वह भी हँसे या मौन रहे, पर यह सब क्षणिक था। आखिर यांत्रिक बन्धन और भाभी दोनों मुक्त होते चले गये और वे दोनों खुलकर हँसे...

कच्चे रास्ते को पार करती हुई कार इस बार जहां रुकी, वहां काफी भीड़ थी। भीड़ में अधिकारी थे, गांववाले थे, पर उन सबमें सबसे आगे था नारायण। वही नारायण जो सदा मुस्कराता था, जो सदा तनकर चलता था, पर जो सदा सबसे पीछे रहता था। वह आज आगे था। उसने आगे बढ़कर वजीर का स्वागत किया। आंखें मिलीं और गीली हुईं। सहसा नारायण ने कार से उतरती हुई अपनी पत्नी को देखा, "हूं, तो लाला घर हो आये हैं..." पर आगे सोचने का अवसर नहीं था। वजीरसाहब कह रहे थे, "अच्छे हो नारायण !"

"हां, हां अच्छा हूं। क्या तुम घर गये थे ?"

"देखो न, भाभी आती ही न थीं।"

और वह हँस पड़े, तभी उनकी दृष्टि भीड़ के आगे खड़े हुए अधिकारियों पर पड़ी। वह कुछ और आगे बढ़े और फिर यन्त्र घूमना शुरू हो गया। वजीर-साहब वहां एक नई सड़क बनाने के काम का उद्घाटन करने आये थे। जैसा

कि प्रजातन्त्र में होता है, इस काम का आरंभ भी भाषणों से हुआ। फिर सब लोग कुदाल, फावड़े और टोकरियां लेकर आगे बढ़े। फोटो-ग्राफर भी बढ़े। वजीरसाहब सबसे आगे थे। उनकी बगल में नारायण था। वजीर-साहब ने पहली चोट करने को जैसे ही कुदाली उठाई कि हाथ ऊपर ठिठक गये। मुड़कर पुकारा, "भाभी।"

भाभी दूर नहीं थी। एक किनारे खड़ी थी। वजीरसाहब ने कहा, "भाभी, पहली चोट तुम करो।"

भाभी ने सहमकर उन्हें देखा, "मैं...?"

तबतक कुदाली उसके हाथ में थी और सब लोग यंत्रवत् कह रहे थे, "हां, हां, आइये न। निर्माण का काम नारी के हाथों ही आरम्भ होना चाहिए।"

और तब भाभी ने एक बार वजीरसाहब को देखा जो बालक की तरह कुछ पाने को मचल रहे थे, पति को देखा जो पर्वत की तरह गर्व से मौन थे, फिर उसने कुदाल संभाल ली और अंकित स्थान पर पूरे ज़ोर-से दे मारी। फिर तो कुदाल, फावड़े सब चल पड़े। सब लोग धरती का सीना फाड़ने लगे। फाड़ते चले गये। बिना रुके, बिना देखे, पांच मिनट, दस मिनट, आधा घण्टा, कोई रुका नहीं। कुदाली से मिट्टी तोड़ते, फावड़े से मिट्टी उठाते, टोकरियां दूर ढेर लगातीं और सड़क का सीना निखरता आता, पर रुकता कोई नहीं था। वजीरसाहब को आधे घण्टे बाद दूसरी जगह जाना था, पर उनकी दृष्टि धरती पर है, हाथों में कुदाल है और आत्मविस्मृत वह खोदते चले जा रहे हैं, खोदते चले जा रहे हैं।

सरकारी अधिकारी ने निवेदन किया, "दूसरी जगह भी जाना है। समय हो गया।"

वजीरसाहब ने सुना, वह झिझके, नारायण को देखा—वह कुदाल मारता था और दूर तक मिट्टी उखड़ती चली जाती थी। सोचा—क्या इसे पता नहीं कि मुझे जाना है। समय हो गया है, यह रुकता क्यों नहीं।

और जैसे उसे सुनाते हों, ज़ोर-से कहा, "अभी चलते हैं।" और फिर

कुदाल चलाने लगे। फिर कुछ मिनट बीते। अधिकारी ने फिर याद दिलाया। वजीरसाहब कुछ कुढ़े। देखा——नारायण उसी तरह लगा हुआ है। इसने क्या सोच रखा है। मुझे विदा क्यों नहीं करता। क्या इसे पता नहीं। नहीं, नहीं, इसे सब पता है। यह जान-बूझकर देर कर रहा है ..जैसे वह सहमे, पर उन्होंने कुदाल नहीं छोड़ी। अधिकारी बड़े असमंजस में पड़े। उन्होंने फिर याद दिलाया। वजीरसाहब झुंझला उठे। कहा, "चलते हैं।"

और नारायण की ओर देखा। उसने सिर नहीं उठाया, जैसे कहता हो—वजीर हो तो क्या। जाना है, चले जाओ मैं काम क्यों छोड़ूं। वजीर-साहब को सहसा गुस्सा आ गया — इतना घमण्ड! इतना अपमान!

और चिनचिनाकर उन्होंने कहा, "नारायण!" नारायण दूर नहीं था। बिना रुके, बिना सिर उठाये वह बोला, "ठीक है, आप जायं।" वजीर-साहब तिलमिलाये। उन्होंने कुदाल फेंक दी और बिना इधर-उधर देखे कार में बैठकर चले गये। नारायण ने भी उधर नहीं देखा। वह अपने साथियों के साथ कुदाल चलाये जा रहा था। मिट्टी उखड़ी जा रही थी, सड़क बढ़ती जा रही थी।

वजीरसाहब जब दूसरे काम से निबटकर लौटे तो नारायण रास्ते पर खड़ा था।

बोला, "चलो।"

"कहां?"

"खाना नहीं खाओगे?"

"ओह!" सहसा मन में उठा कि मना कर दें, पर हुआ यह कि कार से उतरकर नारायण के साथ चल पड़े। नारायण ने कहा, "कार नहीं लोगे?"

"नहीं।"

"थक गये होगे?"

"नहीं।"—उन्होंने तीव्रता से कहा और कहकर नारायण को जिस दृष्टि से देखा वह तीखी भी न होकर स्नेहमयी नहीं थी। नारायण ऐसे मुस्कराया जैसे डाक्टर मरीज की सही-सही परीक्षा करने के बाद मुस्क-

राता है।

वजीरसाहब तब स्पष्ट सोच रहे थे—यह नारायण कितना बदल गया है, जो सदा पीछे रहकर सबको ग्रागे बढ़ाता था वह ग्रब सबमे ग्रागे रहता है, मनमानी करता है। माना वह उसके पुराने मित्र हैं, पर वजीर भी तो हैं। वजीर की स्थिति का, उसकी जिम्मेदारियों का उसे खयाल रखना चाहिए था, पर वह था कि धरती खोदने चला तो खोदता चला गया, जैसे वह ग्रकेला ही सड़क बना सकता है। मैं उसे कितना विनम्र समझ रहा था...

ध्यान टूटा। भाभी पूछ रही थी, "बड़ी देर कर दी, वजीरसाहब!"

"वजीरसाहब?"

"हां जी, हो तो वजीर ही। ध्यान रखना पड़ता है।"

ग्रौर कहकर वह खिलखिला पड़ीं। झरने जैसी खिलखिलाहट, धवल, मुक्त ग्रौर जीवन-रस से छलकती। वजीरसाहब की कुण्ठा जैसे उस हास्य का स्पर्श पाकर फिर घुलने लगी। हँसकर बोले, "भाभी, तुम्हारे 'ये' बड़े बदल गये हैं।"

"मेरे ये?"

"हां ये।"

"ग्रो हो, तुम्हारे तो जैसे कुछ लगते ही नहीं। लाला, तुमसे होकर ही वह मेरे हैं।"

वजीरसाहब फिर हारे पर इस बार वह हारकर भी हँसे। बोले, "तुम दोनों ने ग्राज मुझे हराने का फैसला कर लिया है। नारायण भैया सदा पीछे रहते थे, पर ग्राज मुझे पराजित करने पर तुल गये। जैसे ग्राज ही सड़क बनाकर दम लेंगे।"

भाभी ने एक बार विस्मय से वजीरसाहब को देखा। क्षण-भर बाद कहा, "बड़े हिसाबदां हो, लाला। ज़रा-सी देर में कहां पहुंच गये। लालची कहीं के...।"

ग्रौर फिर वही छलछलाती हँसी। वजीरसाहब के जैसे पित्ती उछल ग्राई हो। भाभी हँसती-हँसती कहे जा रही थीं, "पर लाला, कुछ भी हो, तुम्हारे

भैया क्या कभी बदलते हैं। ऊंहूं, आज भी उन्होंने तुम्हें ही जिताया...।"

नारायण टोककर बोला, "अच्छा-अच्छा, रोटी परसेगी कि अपने वजीर देवर को भूखा रखेगी।"

भाभी ने उसी मुक्त मन से कहा, "मेरा देवर कभी भूखा नहीं मरेगा। उसीके भाग्य से वजीर को भी भोजन मिलेगा। समझे।"

और फिर मुड़कर वजीरसाहब से कहा, "लाला, तुम लोगों ने प्रजातन्त्र बनाया है, सो प्रजातन्त्र में तो प्रजा ही जीतेगी। प्रजा की जीत ही वजीर की जीत है। तुम्हारे भैया तुम्हारी प्रजा हैं और फिर हार-जीत तो..."

पर आगे भाभी ने क्या कहा, यह सुनने को वजीरसाहब का मन नहीं रुका। वह तेज़ी-से घूमने लगा और वह विस्मित-से, ठगे-से उन दोनों को देखने लगे और फिर...फिर एकाएक जैसे उनका मन खुशी के भर उठा।

ये उलझनें

सन्ध्या के समय अशोक जब आफिस से लौटा तो बेहद थका हुआ था। घर पहुंचने पर पाया कि एक सज्जन उसका इन्तजार कर रहे हैं। वयस्क हैं और चेहरा बेहद गम्भीर है। चाहा कि बचकर निकल जाय। लेकिन हुआ यह कि पास जाकर उसने कहा, "आप किससे मिलना चाहते हैं ?"

आगन्तुक ने तलखी से उत्तर दिया, "आपसे।"

—आज्ञा कीजिये।

आगन्तुक ने क्रुद्ध आंखों से उसकी ओर देखते हुए कहा, "असित आपका भतीजा है ?'

उसने सहसा हकलाते हुए कहा, "जी हां ! क्या किया उसने ?"

आगन्तुक एकाएक क्रुद्ध हो उठे। मुख रक्त वर्ण हो आया। सांस की गति तीव्र होने लगी। बोले, "क्या किया उसने ? वह तो मेरा भाग्य अच्छा था कि समय रहते उसके जाल को देख पाया। तुम लोगों को शर्म नहीं आती। यदि वह मेरी बहन न होती तो मैं असित का खून पी जाता।"

आगे उनसे बोला नहीं गया। और उसे भी समझने को कुछ शेष नहीं रहा। यह पहला अवसर भी नहीं है। कई क्षण वह क्लान्त-क्रुद्ध मौन बैठा रहा। फिर कहा, "आप मुझे क्या करने को कहते हैं ?"

—यह भी मुझे बताना होगा। कम-से-कम आप उससे सम्बन्ध-विच्छेद तो कर ही सकते हैं।

न जाने क्या हुआ। उसने तीव्र स्वर में कहा, "यह नहीं हो सकता।"

आगन्तुक सहसा नेत्र विस्फारित कर उसकी ओर देखने लगे, "आप

कहना चाहते हैं कि आप उसके कामों से सहमत हैं।"

उसने दृढ़ता से कहा, "यह कहना सच को झुठलाना है। मैं उसके कामों से घृणा करता हूं। लेकिन मैं उसके किसी काम में दखल नहीं देना चाहता।"

आगन्तुक और भी तीव्र हो उठे, "उसके कामों से समाज दूषित हो रहा है। क्या समाज के प्रति आपका कोई कर्तव्य नहीं है?"

—है! लेकिन समाज क्या मैं ही हूं। आप भी तो समाज में हैं। आप क्यों मेरे पास भागे हुए आये।

आगन्तुक अचकचाये, "यदि मेरी बहन की इज्जत का प्रश्न न होता तो मैं उसे नंगा कर देता।"

—और अगर वह मेरा भतीजा न होता तो मैं उसकी हत्या कर देता।

सहसा आगन्तुक को कोई उत्तर न सूझा। कई क्षण दोनों एक-दूसरे को देखते रहे। उन क्षणों की बेचैन उत्कण्ठा को शब्दों में नहीं बांधा जा सकता। फिर आगन्तुक ने कहा, "संसार में सब मेरे जैसे नहीं हैं। हो सकता है, कोई उसकी हत्या कर डाले।"

उसने उत्तर दिया, "सबकुछ हो सकता है लेकिन मैं क्या करूं। समाज ने बार-बार उसके मार्ग में बाधाएं डाली हैं। उसे मनचाहा साथी नहीं चुनने दिया। अब वह समाज को दूषित कर रहा है। आप उसकी हत्या कर सकते हैं। लेकिन जिस प्रवृत्ति का वह प्रतीक है उसको नष्ट नहीं कर सकते। व्यक्ति का नाश व्यर्थ है।"

यह दर्शन आगन्तुक की बिल्कुल समझ में नहीं आया। जल्दी-जल्दी वह बहुत-कुछ सोच गये। लेकिन कहने लायक कुछ नहीं सूझा तो अनायास ही तीव्र हो उठे। कहा, "मैं आपको चेतावनी देने आया हूं। बहस करने नहीं। जो व्यक्ति मां-बहनों की इज्जत से खिलवाड़ कर सकता है, उसे जीने का कोई अधिकार नहीं।"

—नहीं है। लेकिन मां-बहन...

आगन्तुक ने कुछ नहीं सुना। फिर आने के लिए कहकर वह तेज़ी-से चले गये। उसका थका हुआ शरीर और भी टीस उठा। आक्रोश के कारण उसको ऐसा लगा जैसे वह असित का गला घोंटने के साथ-साथ अपना भी गला घोंट लेगा। जैसे अपनेको ही चेतावनी देते हुए उसने कहा, "हां। मैं उसका गला घोंट दूंगा। मुझे फांसी हो सकती है। लेकिन मुझे समाज में गन्दगी फैलानेवाले उस कीड़े को कुचल डालने का पूरा अधिकार है। वह मेरे स्वर्गीय भाई का एकमात्र पुत्र है...

"...स्वर्गीय भाई, कितने सौम्य, कितने सेवाभावी। और उनकी सन्तान यह! ऐसी! यह सब क्या है? असित की मां भी तो कितनी सरल है। आज भी आंखें नहीं उठतीं। तब...तब...नहीं, नहीं। मुझे इसका कोई प्रबन्ध करना ही होगा। मुझे उसको बहिष्कृत करना ही होगा।"

और उसने निश्चय किया कि वह आज रात की गाड़ी से ही असित के पास जायगा।

... ...

अशोककुमार जिस समय अपने भतीजे असितकुमार के घर पहुंचे तो सांझ ढल रही थी और रात के बढ़ते हुए अन्धकार में सबकुछ छिपता जा रहा था। उसने द्वार पर आहट की, कई बार आहट की, लेकिन हर बार वह आहट शून्य में टकराकर उसके पास लौट आई। सहसा उसने ज़ोर-से धक्का दिया। किवाड़ भड़भड़ाकर खुल गये और वह तेज़ी-से सामने किसी चीज से जा टकराया। देखा, चारों ओर घुप अंधेरा है। केवल सामने के कमरे में मन्द-मन्द प्रकाश दिखाई देता है। गौर से देखने पर पाया कि एक बारह-तेरह वर्ष का अधनंगा बालक वहां सोया पड़ा है। उसके पास से होकर वह अन्दर कमरे में चला गया। और पुकारा, "असित।"

असित नहीं बोला।

अशोक ने और पास जाकर उसे छुआ। जैसे उसका हाथ किसी जलते हुए पुंज पर जा पड़ा, एकदम बाहर आया और उस लड़के को उठाकर खड़ा कर दिया। लड़का एकाएक डर गया और घिघियाकर बोला,

"बा...आ...बू...जी।"

—डरो नहीं। मैं तुम्हारे बाबूजी का चाचा हूं। उसे क्या बुखार आता है?

लड़के ने दोनों हाथों से आंखें मलीं। गौर से अशोक को देखा और फिर विश्वास हो जाने पर बोला, "जी हां। छः-सात दिन हो गये।"

—यहां तुम अकेले ही हो?

—जी हां। अब अकेला ही हूं। दो दिन पहले तक एक बीबीजी थीं।

अशोक फिर अन्दर चला गया और असित के पास जाकर ज़ोर-से पुकारने लगा, "असित.. असित . ।"

चकित-विस्मित असित ने बड़े परिश्रम से आंखें खोलीं। लैम्प के मन्द प्रकाश में उसने चाचा की ओर बड़े गौर से देखा। फिर सहसा कांप उठा, "काकाजी।"

अशोक ने तलखी से जवाब दिया, "हां, मैं ही हूं।"

मुंह बाये-बाये असित ने फिर फटी-फटी आंखों से अशोक को देखा और फिर न जाने क्या हुआ चीत्कार कर उठा। काफी देर तक उसकी हिड़कियां बंधी रही। उतनी देर अशोक समुद्र-मन्थन को अपने अन्दर समेटे उसके सिर और छाती पर हाथ फेरता रहा। कुछ शान्ति पड़ने पर उसने पूछा, "अपनी मां को चिट्ठी लिखी है?"

—मैं किसीको चिट्ठी नहीं लिखना चाहता।

अशोक ने फिर कुछ नहीं पूछा। सबसे पहले पलंग को कोने से हटाकर बीच में बिछवाया। बिस्तर बदला। कमरे को साफ किया और फिर निश्चिन्त होकर असित की मां तथा तिरस्कृता पत्नी को तार दिये। इसी कारण अगली संध्या को ही जब वह डाक्टर के पास से लौटा तो घर का मनहूस सन्नाटा नये भविष्य के कोलाहल से भंग हो चुका था। भाभी को देखा तो सहसा पहचान न पाया। शरीर पर जैसे मांस नहीं था। असित की पत्नी आंखों में व्यथा और वेदनाभरे घर के कामों में व्यस्त थी। हां, उसका बालक अकेला आंगन को किलकारियों से भर रहा था। अशोक को देखते

ही उसने तुतलाते हुए कहा—बाबा।

अशोक ने उसे गोद में उठा लिया। फिर भाभी की ओर मुड़कर बोला, "घबराने की बात नहीं है। केवल मयादी बुखार है। अधिक-से-अधिक दो-तीन हफ्ते लगेंगे।"

तीन हफ्ते बीत गये। उसके बाद दो हफ्ते और बीत गये। लेकिन असित स्वस्थ नहीं हुआ। बुखार ने आक्रमण के बाद प्रत्याक्रमण किया। अशोक छुट्टियों-पर-छुट्टियां बढ़ाता रहा। असित की मां और पत्नी आंखों में आंसू भरे उसकी ओर ऐसे ही देखतीं जैसे किसान बादल की ओर देखता है। भाभी तो कुछ कहकर मन का भार हल्का कर लेतीं लेकिन बहू सदा आंखों में आंसू भरे उसके चरणों में मौन अर्घ्य चढ़ाया करती। परन्तु अशोक के अन्तर में क्या है, यह कोई नहीं जानता। शायद वह भी नहीं जानता। वह सदा गम्भीर बना रहता है। असित की ओर उसे देखने में घिन लगती है। लेकिन किसी दुर्निवार आकर्षण के कारण वह देखभाल करने में नहीं चूकता। दीये के मन्द-मन्द प्रकाश में भाभी देखती कि अशोक बार-बार चिहुंक उठता है। सकपकाई दृष्टि से चारों ओर देखता है। उसके हाथ ऐंठते हैं। लेकिन फिर एक झटके के साथ सबकुछ यथापूर्व हो जाता है।

भाभी कभी-कभी पूछती है, "लाला, तेरी तबीयत तो ठीक है।"

अशोक रटे-रटाये शब्द कह देता है, "ठीक है, भाभी। मुझे क्या हुआ है?"

और फिर अपनेको भाभी की निगाह से बचाने के लिए वह वहां से उठ जाता है और किसी एकान्त में जाकर अपने ऊपर चिनचिना उठता है—बुजदिल कमीने, तू इस लाश को नष्ट करना चाहता है। इस लाश को।... हां, हां चाहता हूं, इसे जीने का अधिकार क्या है? यह मर क्यों नहीं जाता। इसके लिए यह स्वर्ण अवसर है।..

नहीं, नहीं, नहीं इसे मरना नहीं जीना चाहिए। मरण समस्या का हल नहीं है। जीवन का नये सिरे से मूल्यांकन जीवन की प्रतिष्ठा है, समाज की प्रतिष्ठा है, मानव की प्रतिष्ठा है और इसीलिए जब डाक्टर उससे कहता

"मिस्टर अशोक, आप चाहें तो किसी दूसरे डाक्टर को बुला सकते हैं। तो वह दूसरे, तीसरे, चौथे डाक्टर, वैद्य, हकीम सभीको बुला ले आता और कहता, "पैसे की आप चिन्ता न कीजिये। लेकिन किसी तरह..."

बीच में ही टोककर डाक्टर बोल उठता, "हम पैसे की चिन्ता नहीं करता है। मरीज की चिन्ता करता है।"

वैद्यजी कहते, "भगवान सब ठीक करेंगे। आप घबराइये नहीं।"

हकीमसाहब दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए बोल उठते, "खुदावन्द करीम ने चाहा तो जरूर शफा होगी। उसका नाम बड़ा है।"

दिन बीत जाता लेकिन रात कल्प जितनी लम्बी हो उठती। असित कभी कराहकर अपनी खाली-खाली आंखों से शून्य में ताकने लगता। कभी दर्द से चीत्कार कर उठता। वह चीत्कार कल्प-कल्प तक अशोक की छाती में बजता रहता। एक रात एकाएक उसने देखा—चीत्कार के साथ असित की गर्दन एक ओर लुढ़क गई है। न जाने क्या हुआ? जैसे वह भार-मुक्त हो उठा हो। जैसे उसके अन्तर में किसीने कहा—ठीक हुआ। मर गया।

जैसे सारा विश्व हिल उठा। जैसे उसने चीखकर पुकारा, "असित ...असित।"

मरणोन्मुख असित ने आंखें खोलीं। अशोक मुस्कराया। जी रहा है।

और फिर देर तक वह असित को सहलाता रहा। छाती करती रही धक्, धक्, धक्। कैसी है यह जिन्दगी, त्रिशंकु की तरह बीच में लटकना ही इसे इष्ट क्यों है? अपने ही को क्यों अजनबी की-सी आंखों से देखती रहती है? क्यों वह किसी निश्चय पर नहीं पहुंचती, क्यों? नहीं, नहीं मुझे आज फैसला करना होगा और वह फैसला है असित की मौत।

सहसा असित की पत्नी का उदास-पीला चेहरा आंखों में आकर समा गया। वह कांपा। लेकिन फिर जैसे उसके अन्तर में किसीने कहा—असित की मृत्यु से उसे भी मुक्ति मिलेगी। आज वह जीते-जी मरणासन्न है। मुक्ति पाकर वह नया जीवन स्वीकार कर सकती है...

तभी सहसा असित ने धीरे-धीरे कहा, "काका, नींद नहीं आ रही।"

अशोक एकदम बोला, "नींद आने की दवा मेरे पास है। एक गोली खालो।"

नींद लानेवाली गोलियां उसके पास थीं। यन्त्रवत् उसने एक गोली उसे दे दी और फिर शीशी वहीं मेज पर रखकर कहा, "दवा यहां रखी है। नींद न आये तो और ले लेना।"

यह कहकर वह बाहर चला गया। घर के दूसरे लोगों से उसने यही कहा, "असित सोना चाहता है। कोई उसके पास न जाय।"

और वह स्वयं घर से बाहर चला गया। उसने निश्चय कर लिया कि वह अब सवेरे से पहले नहीं लौटेगा। लेकिन कुछ दूर तेज़ी-से चलने के बाद सहसा वह रुक गया—नहीं, नहीं, मुझे लौट चलना चाहिए। कहीं उसने और गोली ले ली तो...तो क्या हुआ, मैं यही चाहता हूं।

और वह फिर तेज़ी-से चलने लगा। फिर कोई धीरे-से उसके कान में फुसफुसा उठा—तुम हत्यारे हो। जो मरणासन्न है कायरों की तरह उसी-का गला घोंटना चाहते हो।...हां, असित, मरणासन्न है। मैं मरणासन्न को मारना चाहता हूं। नहीं, नहीं यह नहीं हो सकता।

और वह तीव्र गति से पीछे लौटा। कुछ क्षण बाद पाया—वह घर के अन्दर है और असित के कमरे में एक दबा हुआ चीत्कार उठ रहा है। वह बेतहाशा अन्दर दौड़ा गया। देखा, सबकुछ उलट-पुलट है। शीशियां टूटी-बिखरी पड़ी हैं। मां और बहू दोनों असित के ऊपर झुकी हुई चीत्कार कर रही हैं और असित पड़ा है संज्ञाहीन।

सबसे पहले उसने नींद आनेवाली गोलियों को देखा। शीशी उसी तरह एक ओर लुढ़की पड़ी थी। फिर उसने असित की नब्ज देखी, उसकी गति बहुत मन्द थी। उसने तेज़ी-से कहा, "यह क्या शोर मचा रखा है। असित को नींद आ गई है।"

और फिर वह शीघ्रता से बाहर निकला चला गया। कुछ क्षण बाद

डाक्टर ने आकर बताया, "चिन्ता की कोई बात नहीं है। ज्वर एकदम उतर गया है। कमजोरी है। इंजेक्शन लगाता हूं। सब ठीक हो जायगा।"

क्षण-भर पहले जहां सबकुछ शोकाच्छन्न था वहीं अब हर्ष की लहर दौड़ गई। अशोक के भीतर मानों किसीने कहा, "असित को पुनर्जीवन मिला है। निश्चय ही उसकी मान्यताएं भी बदल गई होंगी।'

नदी, नारी और निर्माण

आज वीनू बहुत बेचैन था। रात-भर करवटें बदलने के बाद वह क्रेन की गगन-भेदी आवाज होने से पहले ही दूकान के बरामदे में आ गया। सूरज अभी अंगड़ाई ले रहा था पर पक्षियों को उसके आगमन की गन्ध मिल गई थी और (घाटी के उस पार की) पहाड़ियों पर संगीत-सभा का आयोजन आरम्भ हो गया था।

लेकिन वीनू ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। घास के मैदान और उनसे परे नदी की पतली धारा पर ही उसकी दृष्टि जाती थी। थोड़ी देर में वह नदी चांदी की तरह चमक उठेगी और दो महीने बाद...।

दो महीने बाद वर्षा ऋतु आ जायगी और तब पश्चिमी घाट की दो हजार फुट ऊंची चोटियां मानसून के बादलों को वहीं निचोड़ लेंगी। उनके रूप-जाल में उलझकर अरब सागर के मेघदूत वहीं रुक जायंगे और तब यह बारीक-सी नदी, पहाड़ों को हिला देनेवाली भयंकर नदी बन जायगी।

उस बेचैनी में भी न जाने वीनू क्यों मुस्करा उठा। भयंकरता में ही निर्माण की शक्ति छिपी है,—शायद यही बात उसके मस्तिष्क में आ गई थी। तभी तो इस छोटी-सी नदी पर बांध बांधा जा रहा था और दावा था कि उससे २,४०,००० किलोवाट बिजली पैदा करेंगे। उसके लिए पहाड़ियों में ही ढाई मील लम्बी सुरंग बनाई थी। उस सुरंग से होकर पानी हजारों फुट नीचे गिरेगा और वहीं धरती के गर्भ में बिजलीघर का निर्माण होगा। उस बेजोड़ बिजलीघर से दूर-दूर का अन्धकार मिट जायगा, मनहूसियत मिट जायगी, गरीबी मिट जायगी...।

वीनू ने तेज़ी-से गरदन को झटका दिया और चीख उठा, "गरीबी!

इस गरीबी ने मेरी जिन्दगी की खुशियों को मिट्टी में मिला दिया। इस गरीबी ने मेरे खानदान के माथे पर कलंक का टीका लगा दिया।"

उसने कुछ गलत नहीं कहा था। उसकी आज की इस बेचैनी का कारण भी यही गरीबी थी। उसे याद हो आया था कि आज से छः वर्ष पहले उसके बाबा के पास कोंडावले गांव का एक आदमी आया था। कोंडावले जितना अपने युद्धों के लिए मशहूर था उतना ही अकालों के लिए भी। (एक बार तो वहां पूरे बारह वर्ष तक अकाल पड़ा था।) उसी गांव के चिमनाजी ने बहुत ही विनम्रता से प्रस्ताव किया था, "मेरी शान्ताबाई को अपने घर की बहू बना लो।"

बाबा ने एकाएक तो कुछ नहीं कहा था पर उनके मुख की भावभंगी सहसा कठोर हो उठी थी। इसीलिए बाद में उन्होंने इन्कार कर भेजा और इस इन्कार का कारण थी यही गरीबी। (हां, अन्त में) उन्होंने स्पष्ट कहा था, "उस भूखे गांव के भूखे घर की बेटी को मैं अपने घर की बहू नहीं बना सकता।"

इस बात के मस्तिष्क में आते ही उसका मन कड़वाहट से भर उठा। और उस कड़वाहट को दूर करने के लिए उसने अपना ध्यान फिर अपने चारों ओर की स्थिति पर केन्द्रित करने का प्रयत्न किया। उसकी कल्पना की दुनिया में बांध का मूर्त-रूप उभर आया। चौबीस मील तक फैला हुआ गहन नील जल, बादलों की राह रोकनेवाली उत्तुंग पहाड़ियां, हरा-भरा वन-प्रान्त और पश्चिमी सागर की शीतल समीर, विशाल बिजलीघर, (मानव-निर्मित सम्पदा और समृद्धि का अजस्र स्रोत!) जो भूमि आज बंजर है, वहां चांदी के पानी की नहरें मनोहारी ताना-बाना बुनेंगी और फिर वह भूमि गेहूं और धान की हरियाली से लहलहा उठेगी। जहां आज सुनसान सांय-सांय करता है वहां मिल की चिमनियों की गगनभेदी किलकारियां गुंजरित होंगी। तब निर्धनता को मुंह छिपाने के लिए भी जगह नहीं मिलेगी और मनहूसियत अरब सागर में जा डूबेगी! और...और...

और तब लोग गरीब न रहेंगे। हां, तब गरीबी का निशान भी न रहेगा।

(कोई ऐसा चिह्न न रहेगा, कोई ऐसा प्रमाण न रहेगा जो गरीबी का निशान बता सके। जो...जो...)

जैसे एकबारगी उसे कुछ याद आ गया हो। वह लगभग चीख उठा—"लेकिन शान्ताबाई का क्या होगा? उसकी गरीबी का क्या होगा? क्या वह अमीर हो जायगी? क्या सम्पदा उसके चरणों में लौटेगी और उससे विवाह करने के इच्छुक उसके आस-पास मंडरायंगे और वह विद्रूप से मुंह फिराकर चली जायगी, उनकी ओर दृष्टि भी नहीं डालेगी, उनको ठुकरा देगी। (उनको ठुकरा देगी...) नारी पुरुष को ठुकरायेगी! प्रकृति पुरुष का तिरस्कार करेगी...

हां, ऐसा ही होगा और होगा क्या; हो रहा है। शान्ता ने बार-बार उसकी प्रार्थना को ठुकरा दिया है। कौन शान्ता? वही शान्ता! कोंडावले गांव के गरीब बाप की गरीब बेटी! जिसको उसके बाबा ने अपने घर की बहू बनाने से इन्कार कर दिया था।

वही शान्ताबाई पांच साल से इस बांध पर काम कर रही है। पांच साल से धीरे-धीरे, एक-एक पत्थर ढो-ढोकर, एक-एक पत्थर जोड़कर व एक नई दुनिया के निर्माण में योग दे रही है, एक ऐसी दुनिया, जो साकार सपनों की दुनिया होगी, जो सम्पन्नता, सुख और सौरभ की दुनिया होगी

वीनू की शान्ता से पहली मुलाकात एक अद्भुत परिस्थिति में हुई थी सैकड़ों मजदूर उसकी दूकान पर चाय, दूध और दूसरे सामान के लिए आ थे। वह भी आती रही होगी। उस दिन भी आई थी पर तबसे पहले उसे पहचान न सका था। उस दिन ऐसा हुआ कि एक पर्यटक ने आकर मांगा और उसने इन्कार कर दिया। दूध न हो, यह बात नहीं थी। उस एक समारोह था, और वह दूध उसीके लिए सुरक्षित था। पर्यटक ब थका हुआ था। शान्ता ने उसकी ओर देखा और अनायास ही अपनी भ में बोल उठी, "भगवान न जाने किस रूप में आ जाते हैं।"

वीनू ने इस वाक्य को सुना, एक नारी के मुंह से सुना, जैसे यह उस इन्सानियत को चुनौती थी। उसने तुरन्त जाते हुए पर्यटक को पुकारा, उ

क्षमा मांगी और गिलास भरकर गरम-गरम दूध उसके सामने रख दिया।

पर्यटक उनकी भाषा नहीं जानता था, इसीलिए कृतज्ञता से गद्गद होकर उसने वीनू को धन्यवाद दिया और चला गया। और शान्ता उसी क्षण से वीनू की आंखों में समा गई। कई दिन बाद जब उसे पता लगा कि यह शान्ताबाई ही कोंडावले गांव के ग़रीब बाप की वह गरीब बेटी है, जिसका विवाह उसके साथ होनेवाला था, तब एकाएक जैसे उसके हृदय की गति थम गई, जैसे वह अपने बाबा का सिर फोड़ने को आतुर हो उठा, पर वह तो बहुत पहले ही बाबा की कपालक्रिया कर चुका था। अब तो उसके सामने केवल यही रह गया था कि कई-कई रात तक जागता रहे और अपने भाग्य को कोसता रहे।

कई दिन तक उसका बावलापन पूनम के ज्वार की तरह उफनता रहा, प्रेम का यह ज्वार जिसमें कभी भाटा आता ही नहीं। उसने शान्ता को पाने के लिए क्या नहीं किया।

लेकिन शान्ता थी कि सबकुछ जानकर भी अनजान बनी रही और कहती रही, "एक कहानी थी जो खत्म हो गई।"

साथवालियों ने उससे कहा, "पगली, रानी बनेगी।"

शान्ता मुस्कराई, "दुत्! रानी तो मैं अब हूं। तब तो..."

आगे बोलने से पूर्व ही साथवाली मुंह बिचकाकर बोल उठीं, "अरे जा, मैंने बड़े-बड़ों का गर्व पिघलते देखा है, तू तो पत्थर ढोनेवाली है।"

शान्ता हँस पड़ी, "पत्थर में तो भगवान बसते हैं। वह ही भगवान मुझे रानी बनायंगे और रानी बने बिना मैं..."

कहते-कहते वह एक झटके के साथ आगे बढ़ गई।

यही सब सोचते-सोचते वीनू ने एक गहरी निःश्वास खींची। तबतक सूर्य उदय हो चुका था। पूर्व दिशा की लालिमा से पश्चिमी घाट की मंजुलता निखर आई थी। परन्तु उसके मस्तिष्क की अमा-निशा में प्रकाश की एक भी किरण न चमकी। उसने क्या न किया। स्वयं अपने मुंह से प्रस्ताव रखा। पर पत्थर ढोनेवाली शान्ताबाई तो सचमुच ही पत्थर बन गई थी। तोते की

तरह एक ही वाक्य उसे याद था, "एक कहानी थी, खत्म हो गई।"

पर कहानी क्या कभी खत्म होती है ?

शान्ता और वीनू की कहानी भी चलती रही और बांध बंधता रहा। नदी को मोड़ने के लिए जलाशय बन गया, पानी नीचे ले जाने को सुरंग भी बन गई, धरती माता की अन्तड़ियों को चीरकर संसार का सबसे बड़ा बिजलीघर भी बनने लगा और युगों से अकाल के काल बने स्त्री-पुरुषों के कल्पना-लोक में आशा के कमल खिल उठे। उनमें भी सबसे अधिक उल्लास भर उठा था एक लड़की में, जिसका नाम था हंसाबाई। माथे पर बिन्दी और बालों में गुलाब लगाये वह थिरकती थी। सिर का बोझ फेंककर वह टोकरी को दोनों हाथों से टोप की तरह ओढ़ लेती और थिरक-थिरक कर गा उठती—

नदिया पै सांझ ढले
कटहल की छांह तले,
साज सजा, राग सुना, साज सजा।

पर हंसा की प्रफुल्लता क्या केवल इसी कारण थी कि बांध पूरा होता आ रहा था ? जी नहीं, उसकी जिन्दगी में एक और बांध पूरा होने आया था। उसके पिता बहुत दिन से विनायक अर्थात् वीनू पर ज़ोर डालते आ रहे थे और अब शान्ता की ओर से निराश होकर वीनू हंसा से विवाह करने को लगभग राजी हो गया था।

और तभी से शान्ताबाई की आंखों के नीचे गड्ढे उभर आये थे और अभी कल वीनू ने शान्ता को जिस रूप में देखा था उससे वह बेहद परेशान हो उठा था।

वह सुरंग से लौट रहा था तो उसने शान्ता को एक विशालकाय पत्थर सिर पर रखे जाते देखा। पत्थर ढोना उसका काम था (और मराठा युवती की अदम्य शक्ति में सन्देह करने का प्रश्न मराठा युवक के मस्तिष्क में उठ ही नहीं सकता।) लेकिन वीनू ने देखा कि शान्ता की गति बड़ी मन्थर है। कभी-कभी तो वह गतिहीन हो जाती है। उसके भरे हुए गोरे मुख पर, उसकी बड़ी-बड़ी गम्भीर आंखों में एक गहरी छाया, क्रोध और

करुणा की मिली-जुली छाया उभर उठी है। रह-रहकर वह अपने रक्तिम होंठों को भींच लेती है।

वीनू ठिठक गया और ओट में होकर उसे ध्यान से देखने लगा। सहसा उसने देखा कि थिरकती-फुदकती उसकी होनेवाली मंगेतर हंसाबाई शान्ताबाई के पास से गुजरी। उसी क्षण शान्ताबाई के नेत्र हिंसक पशु की भांति जल उठे। हाथों में विद्युत् की-सी गति भर आई। सिर के पत्थर को हाथों में तौला, और...और...

वीनू एकबारगी कांप उठा। क्षण के सहस्रवें भाग में उसके नयनों में त्रिलोकी उलट-पुलट गई। उसने तड़ककर आगे बढ़ना चाहा, पर यह क्या! पलक मारने जितने उस क्षण में शान्ता की दृष्टि कहीं और मुड़ गई। वह थरथर कांप रही थी और देख रही थी उस ओर जहां तीस हजार व्यक्तियोंवाले सत्तर गांवों की समाधि पर विस्तृत नील जल-राशिवाली झील बननेवाली है।

उस एक क्षण में उन दोनों के मस्तिष्क में से होकर न जाने कितने युग निकल गये। लेकिन प्रकट में यही हुआ कि हंसाबाई पक्षी की तरह चहकती-फुदकती आगे बढ़ती चली गई और शान्ता इस समुद्र-मन्थन से हारी-थकी दूसरे रास्ते पर मुड़ गई।

शान्ता रुक क्यों गई? क्यों? क्या नव-निर्माण के लिए बलिदान की गाथा ने उसे द्रवित कर दिया...

वीनू तबसे इसी उलझन में है, पर यह है कि सुलझ ही नहीं पाती। दिन बीत गया, ढलते सूरज की रक्तिम करुणा पश्चिमी घाटों पर बिखर गई। देखते-देखते मराठों के किलों और वटवृक्षों को सितारों ने अपनी लपेट में ले लिया। भविष्य की आशा-जैसा दूज का चांद पहाड़ी की चोटी पर उभरा और फिर अस्त भी हो गया, अगले दिन नई चमक के साथ उभरने के लिए। वीनू ने दुकान को कभी का समेट लिया था। खाना-पीना करके वह सोने के लिए भी लेट गया। यह दूसरी बात थी कि उसे नींद नहीं आ रही थी और दूरस्थ प्रदेश से आनेवाले वंशीनाद के समान उसके अन्त-

स्थल में एक गहरी ग्राशंका का नाद बज उठा था। इसी उलझन में शायद एक क्षण के लिए उसकी पलकें झपकी ही थीं कि कहीं कुछ खड़का हुग्रा। वह कच्ची नींद में चीखकर उठा। ग्रौर फिर जो हुग्रा वह क्या बताया जा सकेगा। सहसा किन्हीं दो व्यक्तियों ने सोते में उसपर ग्राक्रमण करना चाहा। पर इससे पूर्व कि वे ग्रपने इस नापाक इरादे में कामयाब हो पाते, किसीने उनपर ही ग्राक्रमण कर दिया। उस ग्रन्धकार में इस ग्राकस्मिकता ने उन दस्युग्रों को ग्रभिभूत कर दिया ग्रौर वे ग्रपने ग्राक्रमणकारी को गिराकर पलायन कर गये। गिरे हुए व्यक्ति ने भी भागना चाहा पर तभी ग्रास-पास से कुछ लोग वहां ग्रा पहुंचे।

रोशनी में सबने ग्रचरज से देखा कि चोरों की नंगी कटार वीनू के बिस्तर के पास पड़ी है ग्रौर एक कोने में सिमटी, हथेलियों से ग्रपना वक्ष दबाये, परिस्थितियों से विभूत, कांपती, सिहरती खड़ी है शान्ताबाई। उस संघर्ष में उसके वस्त्र फट गये हैं, ग्रौर हाथों पर जगह-जगह घावों में रक्त उभर ग्राया है।

क्या से क्या हो गया। पता लगाने पर मालूम हुग्रा कि शान्ता ग्राई थी दुकान का ग्रग्नि-संस्कार करने, लेकिन चोरों को देखकर, कर बैठी ग्रपराधी की प्राण-रक्षा।

ग्रौर इससे भी बड़ी विचित्र बात तब हुई जब वीनू ने ग्राग लगाने की बात को सच मानकर कहा, "शान्ता, मैं तो ग्रबतक गलती ही करता रहा, पर ग्रब ग्रौर ठगाई न होने दूंगा। ना, ग्रब तुम्हें यहां से न जाने दूंगा, मरने पर भी नहीं। उससे पहले पत्थर से तुम्हारा सिर फोड़ दूंगा। तुमसे बढ़कर मुझे ग्रौर कौन प्यार कर सकता है।"

बेहोश होती हुई शान्ता बड़बड़ा उठी, "मैं जेल जाऊंगी। मैं जेल जाऊंगी।"

वीनू स्निग्ध-स्वर में बोला, "हां, तुम जेल में ही रहोगी। हम तुम्हें बन्दी बनायंगे, ऐसे ही जैसे इस नदी को बनाया है।

रजनी

प्रभात जिस समय रंजन के घर के सामने पहुंचा तो न जाने क्यों वह सिहर आया। मानों वहां का सारा वातावरण उसकी हँसी उड़ा रहा हो, जैसे असीम लज्जा के कारण वह धरती में गड़ा जा रहा हो। साहस बटोर-कर उसने धीरे-से पुकारा, "भैया हैं क्या ? रंजन भैया।"

दो क्षण बाद भीतर से एक युवक ने झांककर देखा। पूछा, "कहिये क्या काम है?"

स्तम्भित-चकित एक क्षण प्रभात देखता ही रह गया। और उस एक क्षण में युगों की कहानी जैसे उसके मस्तिष्क में उमड़-घुमड़ उठी। अशोक जब कालेज में पढ़ता था तो प्रभात अनेक बार इन भैया से मिला है। जब कभी भी भैया जाते तो अशोक उसे बुला लाता और तब इधर-उधर की बातें करते-करते ये भैया उसे सारी रात बिठाये रखते। सूरज चढ़ने पर ही उन्हें होश आता लेकिन तब भी क्या उनकी कहानी खत्म होती। अशोक तब एक कोने में बैठा उनकी बातें सुनता रहता। बोलना वह नहीं जानता था इसीलिए उसका प्यार गहरा था। भैया ठेठ देहाती थे। खद्दर की गोटदार मिरजई पहनते थे लेकिन संसार के किस-किस देश में कब-कब स्वतन्त्रता के लिए युद्ध लड़े गये, यह उन्हें खूब याद था। सन् '१४ के षड्यन्त्र के वह साक्षी थे। आर्थिक स्वराज्य की व्याख्या करते समय वह ऐसे लगते थे मानो किसी स्वतन्त्र देश का अर्थ-मन्त्री देश की सच्ची अर्थ-व्यवस्था को जनता के सामने रख रहा हो। अचरज से प्रतिहत होकर जब हम उनकी ओर देखते रह जाते तो वह ठहाका मारकर हँसते और कह देते तुम लोगों ने साहबी ठाट-बाट से रहने के अलावा और सीखा ही क्या

है। इन जेलों से निकलकर जब संसार में प्रवेश करोगे तो पता लगेगा।"

वह कालेजों को जेल कहते थे। उनकी वेशभूषा और उनके विचारों के कारण प्रभात के बहुत-से साथी उनकी हँसी उड़ाते थे। लेकिन प्रभात का मस्तक उनको देखते ही झुक जाता था।

और आज वही रंजन भैया पूछते हैं—कहिये क्या काम है ? जैसे वह मुझे चीन्हते ही नहीं। जैसे युगों के व्यवधान ने उनकी प्रीति को धो-पोंछ दिया हो। यही सोचते-सोचते उसका कण्ठ अवरुद्ध हो आया। तबतक भैया भी पास आ गये थे और जैसे कोई भूली हुई बात मस्तिष्क में कौंध गई हो, फटी-फटी आंखों से प्रभात को देखा और एकाएक चिल्ला उठे, "प्रभात हो क्या ? यहां खड़े-खड़े क्या कर रहे हो। अन्दर आओ। लेकिन अशोक यहां नहीं है। वह तो वहां चला गया जहां से लौटकर नहीं आया जाता।"

कहते-कहते भैया ने प्रभात को छाती में भर लिया और फफक-फफक-कर रो पड़े। देखते-देखते घर में कोहराम मच गया। दो-चार पड़ोसी भी आ पहुंचे। और ऐसा लगा जैसे कि अशोक अभी-अभी गया हो।

बहुत देर बाद जब प्रभात के आंसू नहीं रुके तो गुरु गम्भीर स्वर में भैया ने समझाना शुरू किया, "रोना व्यर्थ है। शरीर का धर्म पूरा हो जाने पर उसे जाना ही होता है। आये हो तो मां को समझाओ। रजनी भी तो घुली जा रही है।"

लेकिन प्रभात तो और भी विचलित हो उठा। रजनी का नाम सुनते ही जैसे उसकी अनुभूति पिघल गई हो। लेकिन इससे पूर्व वह कुछ कहे उसने सुना कि रजनी कह रही है, "अन्दर चलो, भैया। मां आपको बुलाती है।"

प्रभात की दृष्टि सहसा ऊपर उठी। माघ-पूस की सरदी जैसे उसके प्राणों में बज उठी हो...रजनी यह। यह रजनी है।

लेकिन वह एक शब्द नहीं बोला। व्यथित-व्याकुल चुपचाप उसके पीछे-पीछे अन्दर चला गया। प्रत्येक पग पर जैसे उसने अनुभव किया कि

मौत का गहन अन्धकार एक-एक ईंट, एक-एक पत्थर पर अधिकार जमाये बैठा है। जैसे समूचा घर विषाद की मूर्ति बन गया है। और मां जैसे नारी का कंकाल किसी भयंकर वेदना से दबा जा रहा हो। ओह, यह सब क्या है ?

और उसका बांध फिर टूट गया। मां बहुत देर तक उसे छाती में भरे रही और आंचल से आंखें पोंछती रही। कहती रही—"बार-बार वह तुझे याद करता था। कहता था, प्रभात को बुला दो। लेकिन तुम तो सात समन्दर पार थे, कैसे बुलाते। रजनी कह देती—तार दिया है, कल तक आ जायंगे। लेकिन वह कल कभी नहीं आई। और वह चला गया।"

प्रयत्न करने पर प्रभात इतना ही कह सका—मां, मैं सचमुच अभागा हूं। मां ने सहसा उसे और पास खींच लिया। धीरे-से कहा, "अभागे क्यों हो ? अब तुम ही मेरे अशोक हो।"

... ...

आजकल करते पूरे पांच दिन बीत गये। अशोक की बातें समाप्त नहीं हुई। भैया खेती बारी में फंसे रहते। मां घर-गृहस्थी का काम देखती। प्रभात की देख-रेख का भार अनायास ही रजनी पर आ पड़ा। जैसे युग-युग की परिचिता हो, विषाद से भरे घर में उसने एक क्षण के लिए भी प्रभात को आंसू बहाने का अवसर नहीं दिया। ऐसा लगता था जैसे प्रभात सदा की भांति गांव में रहने आया है। केवल एक ही अन्तर उसने अनुभव किया कि रजनी, जो कभी एक चिड़िया की भांति फुदकती-चहकती थी, अब गहन-गम्भीर हो उठी है। समझदारी की बातें करती है। विलायत की बातें पूछ-पूछकर वह अपने भैया को परेशान कर देती है। प्रभात ने जब उससे कहा—इंग्लैंड में बेटा अगर मां के होटल में खाना खाने जाता है तो मां उससे भी पैसे वसूल करती है। तुम भी अपना बिल तैयार कर लेना। तो वह लज्जा और ग्लानि से कांप-कांप उठती, "छीः वे आदमी हैं या कुछ और।"

लेकिन उसी सन्ध्या को उसने मां से कहा, "मां ! तू भैया से गिन-गिनकर दाम वसूल कर लेना। और मैंने जो देखभाल की है, उसका भी मूल्य

चुकाना मत भूलना।"

सारी कथा सुनकर वह घर अट्टहास से गूंज उठा। प्रभात रजनी से अपरिचित हो यह बात नहीं। कालेज-जीवन में जब उसका अशोक से परिचय हुआ था उसी क्षण से वह रजनी का नाम सुनता आ रहा है। अशोक रजनी की प्रशंसा करते नहीं अघाता था। हर बार वह घर से लौटता और कहता—देखो प्रभात! रजनी ने कैसा सुन्दर रूमाल निकाला है। देखो प्रभात! इस मेजपोश के रंग कैसे प्यारे हैं। अच्छा प्रभात! अभी जो मिठाई तुमने खाई थी वह क्या बढ़िया नहीं थी? वह रजनी ने बनाई थी।

लेकिन रजनी के वह कभी इतना पास नहीं आ पाया था जितना इस बार सम्भव हो सका। उसे लगा जैसे अशोक कभी रजनी की ठीक-ठीक प्रशंसा नहीं कर पाया। स्वयं भी प्रयत्न करने पर ऐसा नहीं कर सकेगा। वह जैसे नारी का प्रतीक है। जैसे...

रजनी के योग्य उसे कोई उपमा नहीं सूझी और उसके जाने का दिन आ गया। आंखों में आंसू भरकर मां ने कहा "आते रहना भैया।"

सहसा रंजन भैया बड़े जोर से हँस पड़े, "आयेगा क्यों नहीं। यह भी तो इसका घर है। और फिर मैं जो हूं। पकड़कर ले आऊंगा।"

प्रभात भी हँस पड़ा। दृष्टि उठाकर देखा, "रजनी वहां नहीं है। कोठे पर चुपचाप एक कोने में खड़ी बार-बार आंखें पोंछ रही है।'

प्रभात का हृदय जैसे हाहाकार कर उठा। वह तेज़ी-से गाड़ी में जा बैठा।

... ...

प्रभात डाक्टर के रूप में बहुत शीघ्र प्रसिद्ध हो गया। पैसे की उसे कभी कमी नहीं थी। लेकिन इस प्रसिद्धि और ऐश्वर्य के बीच वह अपने रंजन भैया को नहीं भूला और न ही भूला रजनी को। इसीलिए जब उसके विवाह का शुभ अवसर आ पहुंचा तो उसने रंजन भैया को तार दिया, "मां और रजनी को लेकर तुरन्त चले आओ।"

लेकिन तीसरे दिन उसने देखा अकेले रंजन भैया आये हैं। सकपका-कर उसने पूछा, "मां कहां है ? रजनी क्यों नहीं आई ?" भैया ने इतना ही कहा, "आ नहीं सकीं।"

प्रभात जैसे पागल हो उठा, "आ नहीं सकीं। क्यों नहीं आ सकीं। उन्हें आना ही होगा।"

और देखते-देखते वह अपनी कार लेकर तुरन्त गांव की ओर रवाना हो गया।

जिस समय उसने दरवाजा खटखटाया तो आधी रात बीत चुकी थी। आवाज सुनकर रजनी जागी। कई क्षण उसका हृदय भय से धक्-धक् करता रहा पर जब उसने पहचाना तो जैसे वह जड़ हो गई। लेकिन आवाज और भी तीव्र हो रही थी। मां जागी। किवाड़ खुले और बड़े वाद-विवाद के बाद रजनी को प्रभात के साथ जाना ही पड़ा।

रात के उसी गहन सन्नाटे को भंग करती हुई कार फिर नगर की ओर दौड़ने लगी। रात का यह गहन सन्नाटा। सन्-सन् करती यह शीतल वायु। निपट नीले आकाश में तारों की यह अद्भुत चित्रकारी। और प्रभात के बगल में बैठी एकाकी रजनी !...

एकाएक प्रभात ने रजनी की ओर देखा। किसी व्यतीत में डूबी वह न जाने कहां खो गई थी—ओह, कितनी सुन्दर, कितनी मोहक ! नारी यह है। यह है नारी।

संज्ञाहीन जैसे उसने पुकारा, "रजनी।"

रजनी कांप उठी। प्रभात को सहसा जैसे कुछ याद आया। पूछ बैठा, "तुम भैया के साथ क्यों नहीं आई थीं, रजनी ?"

रजनी मौन। बस कांपती है।

—नाराज हो रजनी।

रजनी का कम्पन बढ़ता है।

—बोलो रजनी !

रजनी जैसे रो आती है। उस गहन अन्धकार में मोटर के भीतर के

प्रकाश में वह आंसू जैसे उसको उत्तेजित कर देते हैं। वह सहसा मोटर रोक देता है और अपना हाथ रजनी के कंधे पर रखते हुए बोल उठता है, "रोती हो। क्यों ? क्या दुःख है ?"

सहसा रजनी जाग जाती है और धीर-गम्भीर स्वर में बोल उठती है, "अंधेरे में डर लगता है, भैया। जल्दी चलो ना।"

प्रभात फिर रास्तेभर रजनी से नहीं बोला। बोल ही नहीं सका।

... ...

समय ने करवट ली। रजनी का भी विवाह हो गया। वह अमीर नहीं थी, इसीलिए अमीर घर की बहू भी नहीं बन सकी। न पहनने को ढेर सारे कपड़े, न आभूषण। पर काम का कोई अन्त नहीं। दो पहर रात रहते ही पीसना शुरू करती तो गाय-भैंसों की देखभाल के वक्त ही रुकती। भरा-पूरा कुटुम्ब, शाम होने का पता ही नहीं लगता। लेकिन जैसे वह कभी थकती नहीं। कभी शिकवा-शिकायत नहीं करती। सहज भाव से जैसे उसे जो कुछ करना है कर चलती है। जीवन की ममता जैसे इसी गृहस्थी में सिमटकर रह गई है।

प्रभात ने अनेक बार रजनी की कहानी सुनी। व्यथा से उसका मन भर आया। एक दिन उसने भैया को लिखा—

भैया,

रजनी को अपने नये घर में बहुत मेहनत करनी पड़ती है। उधर मेरा बहुत प्रभाव है। उसके पति के लिए आप चाहें तो मैं बहुत-कुछ कर सकता हूं!...

भैया ने उत्तर दिया—

प्रिय प्रभात,

रजनी स्वतन्त्र है। मेरा अब उसपर कोई अधिकार नहीं। उसीसे पूछ देखो।

दो वाक्यों के इस पत्र को पढ़कर प्रभात क्रोध से भर उठा। और सहसा उसे अशोक की याद हो आई।...अशोक आज होता तो।

न जाने क्या हुआ। प्रभात कांप उठा। न जाने उसे क्या याद आ गया। पीड़ा ने जैसे उसे मथ दिया। उसने चुपचाप कार ली और रजनी के गांव जा पहुंचा।

रजनी उस समय गाय को सानी करके लौट रही थी। कुहनी तक हाथों में भूसी चिपटी हुई थी। सहसा प्रभात को देखकर मुस्कराई। बोली, "तुम आये हो, भैया।"

प्रभात तुरन्त कोई उत्तर न दे सका। देखता रहा। वाणी में वही मधुरता। मुख पर वही दृढ़ता। शरीर जैसे दुबला गया हो। जैसे हीरे के साथ गोट खेली जा रही हो।

रजनी ने फिर पूछा, "जीजी को नहीं लाये ?"

प्रभात जैसे जागा हो। हँसकर बोला, "इधर से जा रहा था। एक दिन उसको लेकर आऊंगा।"

प्रभात को बैठाकर रजनी फिर चली गई। कई क्षण बाद लौटी तो गोद में एक बच्चा था। जैसे मां की छाया हो। प्रभात ने सहसा हाथ फैला दिये, "अरे! तुम भी हो। आओ, मेरे पास आओ।"

बालक प्रभात की ओर देखकर हँसा। फिर दोनों बाहें मां के गले में डाल दीं। मां खिल उठी। प्रभात के अन्तर में जैसे मन्थन तीव्र हो आया—यह तृप्ति, यह सन्तोष, यही तो मृत्यु है।

तभी गांव और घर के दूसरे लोग आ पहुंचे। दिनभर वह वहीं रहा। सुनता रहा बर्तनों की खन-खन, टन-टन, चर्खे की तान, गायों का रंभाना और किसानों की बातें। बीच-बीच में परछाई की भांति रजनी मुस्काती, लजाती आती और पूछ जाती—भैया कुछ चाहिए। बहुत रात बीत जाने पर पास बैठने का अवसर मिला। कई क्षण तक दोनों घर-गृहस्थी की कुशल-क्षेम पूछते रहे। फिर एकाएक प्रभात ने पूछा, "तुम यहां प्रसन्न हो, रजनी ?"

सस्मित-नयनों से रजनी ने प्रभात की ओर देखा, "ऐसा क्यों पूछते

हो, भैया ?"

प्रभात उठकर बैठ गया, "क्यों पूछता हूं ? तुम नहीं जानती। तुम यहां मजदूरनी की तरह पिसती रहती हो। मैं यदि चाहता तो..."

रजनी एकबारगी किसी अज्ञात भय से सिहर उठी। धीरे-से बोली, "नहीं, नहीं।"

प्रभात ने कहा, "नहीं क्यों। मैं चाहता तो तुम्हारा विवाह मेरे साथ हो सकता था। लेकिन मैं निकला कायर..."

रजनी किसी भयंकर पीड़ा से कसक उठी। लेकिन यह सब क्षणिक था। दूसरे ही क्षण अपरिसीम धीरज के साथ उसने कहा, "दुत्, पागल हो रहे हो, ऐसे भी कोई कहता है। वह आने ही वाले हैं।"

लेकिन प्रभात तो संज्ञाहीन हो रहा है। पूर्वतः बोलता है, "नहीं, नहीं, रजनी ! सह सब मेरा ही पाप है। लेकिन अब तो कुछ हो नहीं सकता। मैं तुम्हारा भैया ही रहूंगा। डरो नहीं। मर्यादा को जानता हूं। लेकिन भैया के नाते एक प्रार्थना करता हूं। मेरे पास बहुत पैसा है..."

रजनी का मुख रक्तवर्ण हो आता है। लगता है जैसे वह क्रुद्ध हो उठेगी। लेकिन परम शान्ति के साथ वह कहती है—मेरी पराधीनता आपको बुरी लगती है। लेकिन मुझे बुरी नहीं लगती, क्योंकि जानबूझकर मैंने इसे स्वीकार किया है। चाहूंगी तो क्षण-भर में तोड़ दूंगी। लेकिन तुम इसे नहीं तोड़ सकते।

अप्रतिभ अवाक् प्रभात उसे देखता ही रहा। और वह कहती रहती है, "दुःखी मैं नहीं तुम हो। तुम्हारी आत्मा किसी अज्ञात दुःख से तिलमिला रही है। उसी कांटे को निकाल फेंकोगे तो..."

उसी समय द्वार पर आहट हुई। शान्त मन रजनी किवाड़ खोलने उठी। पति आ गये थे। प्रभात ने सुना, वह कह रही है, "आज बहुत देर कर दी। घर में मेहमान आये हैं। मेरे डाक्टर भैया...।"

दोनों साथ-साथ कमरे में आये। प्रभात सहसा उठा। बहुत-से नोट

नीचे जमीन पर बिखर गये। रजनी ने उन्हें शीघ्रता से बटोरकर प्रभात को दे दिया और बोली, "गांवों में इस तरह नोट लेकर नहीं घूमना चाहिए। तरह-तरह के लोग हैं। और गरीबी अभी मिटी नहीं है।"

प्रभात मूर्तिवत् उसे देखता ही रहा। कुछ कह न सका। हारा हुआ-सा जैसे वह नारीरूपी अथाह सागर के सामने एक क्षुद्रातिक्षुद्र प्राणी हो। जैसे वह जन्म-जन्म में भी उसका ओर-छोर न पा सकेगा।

●

आकाश की छाया में

आनन्द उन दिनों बहुत परेशान था। बोर्ड के स्कूल में पांच अध्यापिकाओं की आवश्यकता थी और एक हजार प्रार्थना-पत्र आ चुके थे। आना अभी बन्द नहीं हुआ था और जैसा कि अभावग्रस्त देशों की परिपाटी है—बहुत-से सिफारिशी पत्र भी उनके साथ-साथ आ रहे थे।

उन पत्रों के लिखने या लिखवानेवालों में मन्त्री, सचिव, बड़े-बड़े सरकारी अफसर, जन-प्रतिनिधि, दूसरे प्रतिष्ठित व्यक्ति, सभी थे। उनमें अपरिचित भी थे और परिचित भी; ऐसे परिचित कि एक बन्धु ने एक दिन रात को बारह बजे टेलीफोन किया—"हलो, हलो, आनन्द !"

ऊंघता हुआ आनन्द बोला, "कौन है ?"

"कौन है, अच्छा, पहचानते भी नहीं ? अरे, अभी से यह हाल है !" गुल्ली-डंडा किसके साथ खेलते थे, लड़ते किससे थे, कुट्टी किससे करते थे...?"

अब आनन्द हैं कि खीझ रहे हैं, सोच रहे हैं।

"हलो, हलो, सो गये ? अरे, मैं हूं मदन, मदन टोपा।"

"मदन, ओह मदन तुम ! रात को बारह बजे कहां से बोल रहे हो, यार ?"

"बोलूंगा क्या जहन्नुम से ! अरे, तुम्हारे ही शहर में हूं।"

"यानी यहीं। नहीं, नहीं, तुम झूठ बोल रहे हो।"

"यानी हम झूठे भी हैं। भलेमानस, पांच वर्ष से यहीं हूं। 'मेहता एण्ड पुरी' में।"

"कमाल करते हो, यार, पांच वर्ष से हो और पता तक नहीं दिया।"

मदनसाहब खूब हँसे। कुछ इधर-उधर की बातें हुईं। फिर बोले, "अरे भाई, सुना है तुम्हारे बोर्ड के स्कूल में कुछ अध्यापिकाएं रखी जा रही हैं।"

आनन्द का माथा ठनका, बोला, "अरे हां, वह तो चलता ही रहता है।"

"तो हमें भी चला दो न! मेरी छोटी साली है, नाम है कुसुम!"

"तो यह बात है। साली की चिन्ता है।"

"चिन्ता पूरी है, यार, थर्ड डिवीजन है। इसीलिए कष्ट दिया।"

"कष्ट तो क्या है पर...।"

"तो अब मैं निश्चिन्त हूं, तुम जानो तुम्हारा काम जाने।"

अब नियम से हर रोज टेलीफोन एक बार तो आ ही जाता है। दो-तीन बार स्वयं कृपा कर गये हैं। कुसुम भी दर्शन दे गई हैं। एक मन्त्री के निजी सचिव ने केवल उसके लिए ही आनन्द को चाय पर बुलाने की कृपा की है। प्रयाग से उनके मामा के साले का पत्र भी आया है।

और पद्मा की तो बात ही क्या है? रजिया, राजरानी, पुष्पा, नीला, रोज और ऐसे ही अनेकानेक नारियों का इतिहास आनन्द को बार-बार सुनना पड़ा है। रजिया आजकल जिस पद पर है वहां वेतन कम है। राजरानी के विवाह योग्य दो लड़कियां हैं। रोज पति के पास आना चाहती है। नीला एम. ए. पास है। पुष्पा के पति अच्छे पद पर हैं, चारसौ पाते हैं। पर खर्च है कि पूरा ही नहीं होता। वह लोग आनन्द के अच्छे-खासे परिचित हैं, लेकिन पद्मा तो आनन्द के एक परम मित्र की मंगेतर है और वह परम मित्र एक प्रसिद्ध पत्रकार हैं...

बेचारा आनन्द! उसे ऐसा लगता है कि वह इस तूफान में डूब जायगा। लेकिन डूबना तो मना है और तैरना असम्भव! परिणाम यह होता है कि आनन्द का दम घुटने लगता है। वह कुछ चाहने लगता है... कुछ...

आखिर आनन्द ने देखा कि गणित के अनेक नियम काम में लाकर

कार्यालय ने पचास प्रार्थियों को मुलाकात के लिए बुला भेजा है। उसने पाया उनमें से उनचास प्रार्थियों से वह खूब परिचित है। पचासवें प्रार्थना-पत्र के बारे में उसे किसीका पत्र नहीं मिला। वह किसी सरला नामधारी नारी का है। वह सोचने लगा...

तभी एकाएक सोचना बन्द हो गया। पत्रकार मित्र ग्रा गये थे। उन्होंने बहुत-बहुत धन्यवाद दिया, कहा, "ग्रब समझूं कि पद्मा का लिया जाना निश्चित है ?"

"कैसे कह सकता हूं ?"

"ग्रब भी कुछ कहना है।"

"ग्रभी तो कहना है। पचास को बुलाया है, लेना पांच को है।"

"ग्ररे वह तो दफ्तर का काम है, होता ही है, लेकिन तुम्हें जिनको लेना है उनको लेना है। समझ लो, तुमने हमारी शादी में यही भेंट दी है।"

ग्रानन्द ठहाका मारकर हँस पड़ा। पत्रकार ने उसमें पूरे दिल से भाग लिया। कहने लगे, "यही होता है, भाई। देखो, ग्रभी शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर के पास से ग्रा रहा हूं। भतीजे को 'नवीन पाठशाला' में दाखिल कराना है। किस-किससे नहीं कहा, लेकिन काम नहीं बना। ग्राखिर डायरेक्टर से कहना पड़ा।"

सहसा ग्रानन्द बोला, "हां, प्रदीप ! तुमने हमारी योजना पढ़ी ?"

"नहीं तो...।"

"नहीं, क्यों ? सभी पत्रों को तो भेजी थी।"

"भेजी होगी, किसे ग्रवकाश है। लाग्रो मुझे दो। कल सभी पत्रों में उसपर चर्चा मिलेगी।"

ग्रानन्द ने कृतज्ञ होकर योजना प्रदीप को दी। वह गये कि मदन ग्रा गये। वह ग्रपने भाई को इंजीनियरिंग कालेज में भेजना चाहते थे। उसीके लिए सिफारिशी पत्र लिखवाकर लाये थे। मार्ग में ग्रानन्द को धन्यवाद देने रुक गये। उन्हें पूरी ग्राशा है कि जैसे ग्रबतक किया वैसे ही वह ग्रागे भी कुसुम की मदद करेंगे। कुसुम स्वयं भी ग्राई। इसी तरह पुष्पा, नीला,

रोज, राजरानी, रजिया आदि या तो स्वयं आईं या उनके टेलीफोन आये या अभिभावक आये; पर सरला है कि स्वयं तो क्या आती, किसीने उसकी ओर से धन्यवाद के दो-एक शब्द तक न भेजे।

कौन है यह सरला ?

आनन्द ने मुलाकात के दिन ही उसे देखा, देखता रह गया। न रूप न रंग, न प्रसाधन, पर फिर भी जैसे समूचे कमरे में उसकी छाया भर उठी है। प्रत्येक प्रश्न को उसने ध्यान से सुना और विनम्रता से उनके उत्तर दिये। वे उत्तर न किसी पुस्तक में लिखे थे, न किसीसे पूछकर रटे गये थे। उत्तर की गहराई से निकले नपे-तुले शब्दों से जैसे प्रश्नकर्त्ता स्वयं उलझ गये। इसलिए जब पचास में से पांच का चुनाव हुआ तो सरला उनमें न थी। आनन्द ने सबसे पहले उसीका नाम चुना था, पर जब मित्रों के पत्र और प्रार्थियों के चेहरे उसके स्मृति-पटल पर उभरने लगे तब उसने पाया सरला का नाम वहां नहीं रह सका है। वह क्या करे। और, वह तो वह; उसके दूसरे साथी भी उससे सहमत हैं। उन्होंने कहा, "सरला की योग्यता में कोई सन्देह नहीं, पर हमें जैसी अध्यापिका चाहिए वैसी वह नहीं है। वह गहरी है, पर साथ ही बहुत गम्भीर भी है। योग्य है, पर उसका प्रभाव छा जानेवाला है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके अन्तर में कहीं टीस है, जो उसे खुलने नहीं देती। ऐसी अध्यापिका के हाथ में बच्चियों को सौंपना खतरे से खेलना है।"

इस सर्वसम्मत निर्णय से आनन्द को बड़ी राहत मिली, फिर भी उस रात वह सो न पाया। बहुत देर तक टेलीफोन आते रहे। पांचों प्रार्थियों के अभिभावक उसके अत्यन्त कृतज्ञ थे। उन्हींके शब्दों में आनन्द ने उन्हें उबार लिया था। वह समझ नहीं पा रहे थे कि कैसे उसका बदला चुकाया जा सकेगा। पद्मा तो भावावेश में ऐसी हो रही थी जैसे अब रोई, तब रोई। और कुसुम सचमुच रो पड़ी। आनन्द भी कम भावुक नहीं है। उसे भी कण्ठावरोध हो आया। आधी रात इसी झमेले में बीत गई तो उसने सोने की चेष्टा की, पर तभी उसे लगा जैसे उसके हृदय में टीस उठ रही है।

"क्या कारण हा सकता है ?" उसने सोचा।

उत्तर मिला, "तुमने जो चुनाव किया है यह योग्यता के आधार पर नहीं किया है।"

"वह तो सदा ही ऐसा होता है।" और उसने करवट बदलकर आंखें मींच लीं, पर उस अन्धकार में तो सरला की मूर्ति और भी स्पष्ट हो उठी। फिर तो ज्यों-ज्यों वह आंखों के द्वार और ज़ोर-से बन्द करने का प्रयत्न करता, त्यों-त्यों सरला का रंग और भी निखरता चला आता। कुसुम, पद्मा, रोज, नीला, रजिया सब उसकी छाया में ऐसे ही खो जातीं जैसे सूर्य की छाया में तारागण छिप जाते हैं। तब घबराकर उसने आंखें खोल दीं। उसे लगा जैसे उसने कोई पाप किया है, जैसे उसने किसी निर्दोष की हत्या कर डाली है...वह फुसफुसाया—"ऐसा तो कभी नहीं होता ? मित्रों की बात तो माननी ही पड़ती है। सभी मानते हैं। बच्चे को स्कूल में दाखिल कराना हो, मकान किराये पर लेना हो, पुस्तक कोर्स में लगवानी हो, मुक-दमे में न्याय करवाना हो, यहांतक कि किसी प्रमाण-पत्र पर हस्ताक्षर करवाने हों तो यह सब मित्रों की सिफारिश से ही होता है। आखिर यह मेलजोल, ये मित्र हैं किस दिन के लिए...।"

"पर यह सब बुरा है।"

"जिस काम को सब करते हैं वह बुरा नहीं होता।"

"लेकिन सरला ने नहीं किया।"

"हां, सरला ने नहीं किया। क्यों नहीं किया ? वह एक बार भी मेरे पास आती तो क्या उसे नौकरी न मिलती ! वह कितनी योग्य है, कितनी शान्त-सौम्य !...लेकिन वह आई क्यों नहीं ? क्यों उसने अभिमान को अपने ऊपर हावी होने दिया ? क्यों...क्यों...?"

"और जब उसने अभिमान किया है तो भुगते। मुझे क्यों परेशान करती है ?"

और आनन्द ने फिर नेत्र मूंदकर सरला से मुक्ति पानी चाही, पर सरला ने उसे पकड़ा कहां था जो मुक्ति मिलती ! वह तो स्वयं उसीकी

उपचेतना थी जो उससे छल कर रही थी। इसलिए वह रातभर लुका-छिपी का खेल खेलता रहा। सवेरे उठा तो अंग-अंग दर्द कर रहा था। उसने किसीसे कुछ नहीं कहा। चुपचाप घूमने के लिए निकल पड़ा। कुछ देर चलने के बाद उसने अपने-आपको वहां पाया जहां एक ओर पचमंजली आलीशान इमारतें खड़ी थीं और दूसरी ओर, ठीक उनके पीछे वे गन्दे और बदबूदार अस्तबल थे, जिनमें आजकल घोड़ों के स्थान पर सभ्य इन्सान रहते थे।

देखकर आनन्द का मन भर आया। लोग उसी गन्दी और पानी से भरी सड़क पर सो रहे थे। कुछ खाट पर थे, कुछ ठेलों पर। एक बुढ़िया अपने जैसी ही एक आरामकुरसी पर सोने का नाट्य कर रही थी। कुछ युवक सूखी जमीन पर एक-दूसरे में उलझे पड़े थे। न बिछावन, न ओढ़ना, शरीर पर भी दूसरा वस्त्र नहीं। पास में ही गाय-भैंस और घोड़े पिछले दिन की थकान उतार रहे थे। उनसे बचता हुआ वह एक अस्तबल के सामने आ खड़ा हुआ। यही सरला का पता था...।

सामने देखा—किवाड़ खुले हैं और अन्दर का सबकुछ स्पष्ट दिखाई दे रहा है। कोई कमरा नहीं, परदा तक नहीं; पर जो हैं उसमें नियम है। सामान संक्षिप्त हैं, पर व्यवस्थित हैं। बीच में एक खाट बिछी है, जिसपर एक पुरुष लेटा हैं। शायद पति है। उसीके पास फर्श पर सरला बैठी है। उसका एक हाथ पति के वक्ष पर है दूसरा एक शिशु की पीठ पर जो अपने तीन भाई-बहनों के साथ मां के पास धरती पर लेटा है।

आनन्द का मन और भीग आया। वह खोया-खोया-सा आगे बढ़ा तभी उसे लगा जैसे वे लोग बातें कर रहे हैं। वह ठिठककर पीछे हट गया। एक क्षण बाद पुरुष का निराशा से कांपता हुआ स्वर उसके कानों में पड़ा।

"तो यह स्थान भी नहीं मिला?"

सरला बोली, "नहीं, नहीं मिला। आशा भी नहीं है।"

पुरुष ने जैसे पूरी बात नहीं सुनी, कहा, "मैंने पहले ही कहा था, पर तुम सुनो तब न! बिना सिफारिश क्या कहीं कुछ होना है?"

सरला बोली, "जानती हूं, पर हमारा ऐसा कौन परिचित है जिसका प्रभाव उनपर पड़ सकता । अब तो एक ही काम हो सकता है ।"

पुरुष ने उठते हुए पूछा, "कौन-सा काम ?"

इस बार आनन्द ने दृष्टि चुराकर फिर भीतर झांका । देखा, पुरुष के मुख पर प्रभु की करुणा बरस रही है, नेत्र ऊपर को उठे हैं । वह कांप उठा—ओह, यह तो नेत्रहीन है... ।

पुरुष फिर बोला, "तुम क्या करने को कहती हो ?"

सरला दो क्षण चुपचाप बैठी रही । तेज़ी-से बेटे की पीठ पर हाथ फेरती रही । उत्तर न पाकर पुरुष ने अपने हाथ से सरला का मुंह टटोलना शुरू किया, टटोलता रहा फिर फुसफुसाकर कहा, "कहो, क्या करने को कहती हो, मैं बुरा न मानूंगा ।"

सरला के गले में बात रुकी थी । सहसा पति के मुंह की ओर मुंह उठाकर वह बोली, "कहती थी अब चिट्ठी से काम न चलेगा ।"

"तो ।"

...

"बोलो सरला, बोलो ।"

"मुझे शरीर का सौदा करने की आज्ञा दो । बोलो दोगे...?"

निमिष मात्र में यह भूकम्प-जैसा स्वर आनन्द के कानों से होकर त्रिलोक में व्याप्त हो गया और जब टूटे हुए ग्रह की तरह वह वहां से भागा तब गन्दे पानी के छींटों से विशाल अट्टालिकाओं की दीवार गन्दी हो गई तथा धरती पर सोये हुए स्त्री-पुरुष चीखकर उठ बैठे ।

'मंडल' द्वारा प्रकाशित प्रमुख साहित्य

आत्मकथा	(गांधीजी)	४·००	स्वराज्य-शास्त्र	(विनोबा)	०·५०
प्रार्थना-प्रवचन : २ भाग	,,	५·५०	सर्वोदय-संदेश	,,	१·५०
गीता माता	,,	४·००	गांधीजी को श्रद्धांजलि	,,	०·३७
पंद्रह अगस्त के बाद	,,	२·००	भूदान-यज्ञ	,,	०·२५
धर्मनीति	,,	२·००	राजघाट की संनिधि में	,,	०·६२
द० अफ्रीका का सत्याग्रह	,,	३·५०	विचार-पोथी	,,	१·००
मेरे समकालीन	,,	५·००	सर्वोदय का घोषणा-पत्र	,,	०·२५
आत्म-संयम	,,	३·००	उपनिषदों का अध्ययन	,,	१·००
गीता-बोध	,,	०·५०	कुछ पुरानी चिट्ठियां	(नेहरू)	१०·००
अनासक्तियोग	,,	१·५०	इतिहास के महापुरुष	,,	३·००
ग्राम-सेवा	,,	०·३७	मेरी कहानी	,,	८·००
मंगल-प्रभात	,,	०·३७	,, (संक्षिप्त)	,,	२·५०
सर्वोदय	,,	०·३७	हिन्दुस्तान की समस्याएं	,,	२·००
नीति-धर्म	,,	०·३७	राष्ट्रपिता	,,	२·००
आश्रमवासियों से	,,	०·४०	राजनीति से दूर	,,	२·००
हमारी मांग	,,	१·००	विश्व-इतिहासकी झलक	(सं०)	६·००
एक सत्यवीर की कथा	,,	०·२५	हिंदुस्तान की कहानी	(संक्षिप्त)	२·५०
आत्मकथा (संक्षिप्त)	,,	१·००	गांधीजी की देन	(राजेंद्र प्रसाद)	१·५०
हिंद-स्वराज्य	,,	०·७५	आत्मकथा	,,	८·००
अनीति की राह पर	,,	१·००	राजाजीकी लघु कथाएं	(राजाजी)	१·५०
बापू की सीख	,,	०·५०	महाभारत-कथा	,,	५·००
गांधी-शिक्षा (तीन भाग)	,,	०·६२	कुब्जा-सुंदरी	,,	२·००
आज का विचार (दो भाग)		०.७४	शिशु-पालन	,,	०·५०
ब्रह्मचर्य (दो भाग)	,,	१·७५	दशरथनन्दन श्रीराम	,,	५·००
गांधीजी ने कहा था (६ भाग)		२·७०	मैं भूल नहीं सकता	(काटजू)	२·५०
शांति-यात्रा	(विनोबा)	१·५०	कारावास-कहानी	(सु० नै०)	७·५०
विनोबा के विचार : २ भाग		३·००	गांधी की कहानी	(लु० फि०)	१·५०
जीवन और शिक्षण	,,	२·००	इंग्लैंड में गांधीजी		१·२५
स्थितप्रज्ञ-दर्शन	,,	१·००	बा, बापू और भाई		०·५०
ईशावास्यवृत्ति	,,	०.७५	गांधी-विचार-दोहन		१·५०
ईशावास्योपनिषद्	,,	०·१२	संत-सुधासार	(संक्षिप्त)	५·००
सर्वोदय-विचार	,,	१·१२	श्रद्धाकण	,,	०·७५

अयोध्याकांड	(संक्षिप्त)	१·००
भागवत-धर्म	(ह० उ०)	५·५०
मानवता के झरने	(मावलंकर)	१·५०
बापू	(घ० बिड़ला)	२·००
रूप और स्वरूप	,,	०·७५
डायरी के पन्ने	,,	१·००
ध्रुवोपाख्यान	,,	०·३०
स्त्री और पुरुष	(टाल्स्टाय)	१·००
मेरी मुक्ति की कहानी	,,	१·५०
प्रेम में भगवान	,,	२·००
जीवन-साधना	,,	१·२५
कलवार की करतूत	,,	०·३५
हमारे जमाने की गुलामी	,,	०·७५
बुराई कैसे मिटे ?	,,	१·००
बालकों का विवेक	,,	०·५०
हम करें क्या ?	,,	३·५०
धर्म और सदाचार	,,	१·२५
अंधेरे में उजाला	,,	१·५०
ईसा की सिखावन	,,	१·००
कल्पवृक्ष	(वा० अग्रवाल)	२·००
लोक-जीवन	(कालेलकर)	३·५०
साहित्य और जीवन	(चतुर्वेदी)	२·००
कब्ज	(म० प्र० पोद्दार)	१·००
हिमालय की गोद में	,,	२·००
कहावतों की कहानियां	,,	२·००
जीवन-संदेश	(ख० जिब्रान)	१·२५
अशोक के फूल	(ह० प्र० द्विवेदी)	३·००
कांग्रेस का इतिहास	(संक्षिप्त)	६·००
सप्तदशी		२·००
रीढ़ की हड्डी		१·५०
अमिट रेखाएं		३·००
तामिल-वेद	(तिरुवल्लुवर)	१·५०
हमारे गांव की कहानी		१·५०
खादी द्वारा ग्राम-विकास		०·७५
साग-भाजी की खेती		३·००
पशुओं का इलाज		०·५०

रामतीर्थ-संदेश	(३ भाग)	१·१२
रोटी का सवाल	(क्रोपाटकिन)	३·००
नवयुवकों से दो बातें	,,	०·३७
पुरुषार्थ	(डा० भगवानदास)	६·००
काश्मीर पर हमला		२·००
शिष्टाचार		०·५०
तट के बंधन	(विष्णु प्रभाकर)	२·००
भारतीय संस्कृति	(साने गुरुजी)	३·५०
आधुनिक भारत		५·००
फलों की खेती		२·००
मैं तंदुरुस्त हूं या बीमार ?		०·५०
गांधीजी की छत्रछाया में		२·५०
भागवत-कथा		३·५०
जय अमरनाथ		१·५०
हमारी लोक-कथाएं		१·५०
संस्कृत-साहित्य-सौरभ	(३७ पुस्तकें) प्रत्येक	०·३७
समाज-विकास-माला	(१३० पुस्तकें) प्रत्येक	०·३७
कृषि-ज्ञान-कोष	(डा० व्यास)	४·००
प्रकाश की बातें		१·५०
ध्वनि की लहरें		१·५०
गरमी की कहानी		१·५०
धरती और आकाश		१·५०
समुद्र के जीव-जंतु		१·५०
नवीन यात्रा	(मनोज बसु)	२·००
रूस में छियालीस दिन	(यशपाल जैन)	३·००
मैं इनका ऋणी हूं		२·००
सुभाषित-सप्तशती		२·५०
शारदीया		१·५०
आंसू और मुस्कान		१.००
अमृत की बूंदें		१·००
तूफान और ज्योति		२·५०
प्राकृतिक जीवन की ओर		१·५०
कोई शिकायत नहीं		२·५०

Due Date	Ticket No.	Inls.	Due Date	Ticket No.	Inls.

'मंडल' का कथा-कहानी-साहित्य